

भारतीय प्रतिभाओं का समस्त विश्व में आवागमन

भारतीय प्रतिभाएँ “वसुधैव कुटुंबकम्” की भावना को हृदयंगम करके जहाँ-कहीं पिछड़ापन देखा वहीं दौड़-दौड़कर पहुँचती रही हैं। हमारे पूर्वजों का घर-परिवार कुछ व्यक्तियों या कुछ इमारतों तक सीमित न था। वे समस्त विश्व को अपना घर मानते थे और अपने को विश्व नागरिक के रूप में समझकर समस्त संसार को समुन्नत करने का उत्तरदायित्व अनुभव करते थे। भारत की भौगोलिक सीमाओं के अंतर्गत तो उनके कल्याणकारी क्रिया-कलाप गतिशील रहते ही थे, पर वे उतनी छोटा पगिंध में सीमित नहीं रहते थे। समस्त मानव जाति में आत्मीयता की भावना रखते हुए वे धरती के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रयाण करते थे और जहाँ-कहीं पिछड़ापन देखते वहीं उसे मिटाने के लिए डट जाते। अपने को पूरी तरह खपाकर भी अभावों को समुन्नत स्थिति में बदलते थे।

अज्ञान और अभावों की निवृत्ति के लिए, प्रगति तथा समृद्धि का संवर्द्धन करने के लिए भारतीय प्रतिभाएँ निरंतर विश्व के कोने-कोने में पहुँचती रही हैं। इसका विवरण इतिहास के पृष्ठों में भरा पड़ा है। भारतीय धर्म पुराणों में भी उन प्रमाणों और प्रयासों का विस्तृत विवरण मिलता है। यथा अमेरिका से व्यास ऋषि ने अपने पुत्र शुकदेव को मोक्ष धर्म का उपदेश लेने के लिए भारत में मिथिलापुरी में राजा जनक के पास भेजा। यात्रा के उन देशों का क्रमशः वर्णन है कि—

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १०१

स तं ब्राह्मण श्रिया युक्तं ब्रह्मणा तुल्य वर्चसम् ।
मेने पुत्रं यदा व्यासो मोक्षधर्म विशारदम् ॥
उवाच गच्छेति तदा जनकं मिथिलेश्वरम् ।
स ते वक्ष्यति मोक्षार्थं निखिलं मिथिलेश्वरः ॥
मेरोहरिश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः ।
क्रमेणैव व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत् ॥
स देशान् विविधान् पश्यंश्चनिहूणनिषेवितान् ।
आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः ॥
पितुर्वचनमाज्ञाय तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
अध्वानं सोऽतिचक्राम खचरः खेचरनिव ॥

(महा० शान्ति प० मोक्ष अ० ३२६/२९)

“व्यास ऋषि ने ब्राह्मीश्री से युक्त ब्रह्मतुल्य तेज वाले अपने पुत्र शुकदेव को मोक्ष धर्म में विशारद, प्रवीण समझा और उससे कहा कि मिथिला के राजा जनक के पास जा, वह तेरे लिए समस्त मोक्ष विषय को बतलाएगा। यह सुनकर शुकदेव मिथिला की ओर चल पड़े। मार्ग में मेरुवर्ष और हरिवर्ष इन दो देशों को, पुनः हैमवत देश को क्रमशः लाँघकर भारतवर्ष में आए एवं चीन, हूण जनों से सेवित भिन्न-भिन्न देशों को देखते हुए आर्यावर्त देश में आए। पिता के वचन को मानकर उसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए पक्षी की भाँति लंबी यात्रा की।

अमेरिका के पुरातत्त्ववेत्ता उस देश के प्राचीन इतिहास में ‘मय’ सभ्यता का समुन्नत विस्तार स्वीकार करते हैं। इस संबंध में अनेकों अवशेष, साक्षियाँ प्राप्त हुई हैं। मैक्सिको निवासी अभी भी अपने को ‘मय’ का वंशज मानते हैं। इस ‘मय’ जाति और उसकी सभ्यता का निर्यात भारत से ही हुआ था।

प्राचीन भारत में असुर सभ्यता प्रख्यात थी। उसका देव जातियों के साथ दीर्घकालीन संघर्ष चलता रहा है। मय असुरों का ही एक समुन्नत वंश था। महाभारत में इस वंश की चर्चा आई है। इन्द्रप्रस्थ

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १०२

का राजप्रासाद कभी 'मयों' के ही आधिपत्य में रहा है। उज्जैन में सन् १९३८-३९ में पुरातत्व द्वारा कराई गई खुदाई में जो मुद्राएँ मिलीं उनमें 'मय' शासकों का उल्लेख है। ज्योतिष के प्रमुख ग्रंथ "सूर्य सिद्धांत" का निर्माता मयासुर माना गया है। उसका काल ईसा से एक शताब्दी पूर्व कहा जाता है। "सूर्य सिद्धांत" के आरंभ में इस ग्रंथ निर्माता तथा प्रयोजन के विषय में कहा गया है—

अल्पावशिष्टे तु कृते, मय नामा महासुरः।

“जो थोड़ा शोध कार्य शेष गया था उसे मयासुर ने पूरा किया।”

पाचवीं शताब्दी के ज्योतिर्विज्ञानवेत्ता आचार्य वराहमिहिर ने मय, यवन आदि पंडितों की चर्चा की है।

मय भवन मणित्थ शक्ति पूर्वं दिवस।

करादिषु वासराः प्रदिष्टः इसी नर॥

प्राचीन काल में मलाया प्रायद्वीप के अनेक टापुओं में सोने की खदानें थी। वे गहराई तक खोदी गईं और लगता है, उनमें से प्रचुर स्वर्ण संपदा निकाली गई है। अंगरेजी विश्वकोष में इस खुदाई के बारे में यह मत व्यक्त किया गया है कि “यह कार्य भारतीयों के कौशल का है, वे ही उस समय उस क्षेत्र पर छाए हुए थे।” इस स्वर्ण दोहन का उल्लेख 'स्कंद पुराण' के नागर खंड २९४ वें अध्याय में मिलता है—

तेऽत्र स्वर्णस्य लोभेन देवता दर्शनाय च।

नित्यं चैवा गमिष्यन्ति त्यक्त्वा रक्षः कृतं भयम्॥

“भारतवासी स्वर्ण संपदा लाने और देव-दर्शनों का प्रयोजन पूरा करने के लिए राक्षसों का भय त्यागकर उस क्षेत्र में निरंतर आवागमन रखते थे।”

स सर्वान् म्लेच्छ नृपतीन् सागर द्वीप वासिनः।

करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च ॥

“भीम ने समुद्र में बसे हुए अनेक द्वीपों को जीतकर वहाँ के म्लेच्छ राजाओं को वशवर्ती करके कर एवं रत्नादि प्राप्त किए।”

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १०३

महाराज विक्रमादित्य की प्रशंसा में किसी कवि ने कहा था -

नौका लक्ष्य चतुष्टयं विजयिनो यस्य प्रयाणेऽभवत् ।
सौयं विक्रम भूपति विजयेत नान्यो धरित्री तले ॥

“जिन महाराज विक्रम द्वारा दिग्विजय करते समय चार लाख नौकाओं का प्रयोग किया गया, उनकी जय हो।”

द्रौपदी युधिष्ठिर से कहती है-

जम्बूद्वीपो महाराज नाना जनपदै युतः ।
त्वया पुरुष शार्दूल दण्डेन मृदितः प्रभो ॥
जम्बू द्वीपेन सदृशः क्रौंच द्वीपो नराधिप ।
अधरेण महामेरो दण्डेन मृदितस्त्वथा ॥
द्वीपाश्चं सान्तर द्वीपा नाना जनपदाश्रयाः ।
विगाह्य सागरं वीर दण्डेन मृदितस्त्वथा ॥

— महाभारत

“हे महाराज! युधिष्ठिर! आपने जम्बूद्वीप को जीतकर आबाद किया। फिर क्रौंच द्वीप, शाक द्वीप और अन्यान्य द्वीप-उपद्वीपों को सागर पार जाकर बसाया।”

शका यवन काम्बोजास्ततः क्षत्रिय जातयः ।
वृषलत्वं परिणता ब्राह्मणा नाम दर्शनात् ॥

— महाभारत अनुशासन पर्व

“शक, यवन, यूनानी, कंबोडिया निवासी पहले क्षत्रिय थे। पर जब वहाँ ब्राह्मण नहीं पहुँचे तो वे कर्तव्यच्युत होकर अन्य धर्मावलम्बी बन गए।”

अंग द्वीपं यव द्वीपं मलय द्वीपमेव च ।
शंख द्वीपं कुश द्वीपं वराह द्वीप मेव च ॥
एवं षडेते कथित अनुद्वीपः समन्ततः ।
भारत द्वीप देश वै दक्षिणों बहु विस्तरः ॥

— वायु पुराण

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १०४

“भारत द्वीप के दक्षिण महासागर में बहुत से द्वीप फैले हैं। अंग द्वीप, कुश द्वीप, यव द्वीप, मलय द्वीप, शंख द्वीप, बराह द्वीप—ये छः द्वीप भारत के अनुद्वीप (उपनिवेश) हैं।”

आजकल जिस देश को लंका कहा जाता है, उसका प्राचीन नाम सिंहल द्वीप है। पर भारत में लंका और सिंहल द्वीप को अलग-अलग माना गया है।

सिंहलान वर्वरान् म्लेच्छान् य च लंका निवासिनः ।

—महाभारत वनपर्व अ० ५१ श्लोक २२२

इसमें सिंहल द्वीपवासियों को, तातारियों को, म्लेच्छों को, लंकानिवासियों को अलग-अलग करके गिना गया है। इसी प्रकार का वर्णन मारकण्डेय पुराण (अध्याय ५८) में आता है -

लंका काल जिनाश्चैव शैलिका निकटास्तथा ।

ऋषभाः सिंहलाश्चैव तथा कांची निवासिनः ॥

“लंका, कालजिन, शैलिक, ऋषभ, सिंहल, कांची आदि के निवासी।”

पाण्डवों द्वारा आयोजित राजसूय यज्ञ में सिंहल द्वीप के राजा ने बहुमूल्य रत्न और मोती भेंट स्वरूप भेजे थे, इसका उल्लेख महाभारत के सभापर्व में आता है—

समुद्र सारं वैदूर्य संघास्तथैव चे ।

सतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन् ॥

वाल्मीकि रामायण में भी दक्षिण महासागर के महाद्वीपों का वर्णन रोचकता पूर्वक किया गया है—

यत्नवन्तो यवद्वीप-सप्त राज्योपशोभितः ।

सुवर्णं रुप्यकं द्वीपं सुवर्णं करं भंडितम् ॥

यवद्वीपं मतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः ।

ततो रक्तं जलं प्राप्य श्रोणाख्यं शीघ्रं वाहिनम् ॥

गत्वा पारं समुद्रस्य सिद्धचारणं सेवितम् ।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १०५

पर्वतः प्रभवाः नद्यः । सुभीमः बहु निष्कराः ॥

ततः समुद्र द्वीपोश्च सुभीमान्द्रष्टुमहथ ॥

उपरोक्त श्लोक में स्वर्णद्वीपों की शृंखला में गिने जाने वाले जावा आदि टापुओं की प्राकृतिक शोभा, संपदा एवं स्थिति का वर्णन है। उस क्षेत्र में पहुँचती रहने वाली प्रतिभाओं के द्वारा यह विवरण प्रस्तुत किए जाते रहे हैं।

इस प्रकार के अनेक उल्लेखों से यह सहज ही प्रमाणित होता है कि भारतीय प्रतिभाएँ विश्व के कोने-कोने में धर्मपरायणता, शासकीय सुव्यवस्था, अर्थ समृद्धि एवं कला, शिल्प, विज्ञान आदि की अभिवृद्धि के लिए निरंतर लंबी यात्राएँ करती रही हैं और संसार भर के मनीषियों एवं शासकों की आवश्यक सहायता प्राप्त करने के लिए भारत में आवागमन होता रहा है।



समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १०६

बौद्ध धर्म का उदय

एक क्रांतिकारी अवतरण

जिन दिनों भारतीय वर्चस्व अधोपतन के गर्त में औंधे मुँह गिरा पड़ा था और उसकी दुर्दशा से दूरवर्ती क्षेत्रों में विविधविध नारकीय विकृतियाँ उत्पन्न हो रही थीं, उन्हीं दिनों एक महान क्रांति का अवतरण हुआ। यह क्रांति भगवान बुद्ध के नेतृत्व में प्रकट हुई। स्थिति को बदला जाना आवश्यक था। ऐसी व्यापक आवश्यकताओं की पूर्ति सुगठित क्रांतियाँ ही संपन्न करती हैं। उसका नेतृत्व श्रेय किसी को भी क्यों न मिले, पर वस्तुतः उस परिवर्तन अभियान में जन-भावना का उभार ही काम करता है। यह अलग बात है कि उसे उभारने वालों की अग्रिम पंक्ति में कौन था? नेतृत्व किसने किया और श्रेय किसे मिला?

यह आवश्यकता अनुभव हुई कि प्रतिगामी परिस्थितियों को बदला जाए। भारत के प्राचीन वर्चस्व और कर्तृत्व का पुनरुद्धार किया जाए। संव्याप्त विकृतियों और विपत्तियों का निराकरण किया जाए। इसके लिए आंधी-तूफान जैसे परिवर्तन अभियान की आवश्यकता थी। वह भगवान बुद्ध के अंतःकरण में सर्वप्रथम एक चिनगारी के रूप में फूटी और देखते-देखते सुविस्तृत दावानल के रूप में प्रखर एवं प्रचंड हो गई।

समय की पुकार ने एक सामान्य स्थिति और सामान्य स्तर के राजकुमार का अंतःकरण छुआ। इस भाव-विभोर ने ठान ठानी कि वह वैयक्तिक सुख-सुविधाओं का त्याग करेगा, अपने परिवार को भी कठिनाइयाँ सहने को बाध्य करेगा और उस कष्टसाध्य मार्ग पर चलेगा जिस पर चलते हुए बीज गलता है और अपने अस्तित्व को

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १०७

दूसरों की सुख-सुविधा के लिए अभिनव वृक्ष के रूप में परिणत कर देता है। इसी भाव भरे साहसिक संकल्प का नाम भगवान बुद्ध का अवतरण है। यों बाहर से बुद्ध-चरित्र एक व्यक्ति विशेष का विशिष्ट कर्तृत्व दिखाई पड़ता है, पर वस्तुतः तात्त्विक दृष्टि से उसे एक विद्रोह ही कहना चाहिए, जिसने तात्कालिक विकृतियों का उन्मूलन करने वाली एक ज्वाला के रूप में जन्म लिया था। समय-समय पर भगवान के अवतार भी इसी प्रयोजन के लिए होते रहते हैं। धर्म की स्थापना का दूसरा पक्ष अधर्म का उन्मूलन है। दोनों पक्षों को मिलाकर एक पूरी बात बनती है। भगवान बुद्ध ने सामयिक विकृतियों के प्रति विद्रोह एवं संघर्ष खड़ा किया, साथ ही ऐसी भावनात्मक नव निर्माण की आधार शिला भी रखी जिस पर मानवी गरिमा का सुदृढ़ दुर्ग पुनः स्थापित किया जा सके। इस उभयपक्षीय अभियान का नाम ही बुद्ध भगवान का अवतरण है। भारतीय इतिहास में इस अवतरण को असामान्य और अति महत्त्वपूर्ण माना जाता रहेगा।

अंधकार युग की विकृतियों के कारण उत्पन्न हुए असंतुलन का निराकरण करने के लिए अतीत की अगणित महाक्रांतियों की तरह अब से कोई ढाई हजार वर्ष पूर्व एक क्रांति भगवान बुद्ध के नेतृत्व में हुई। उन्होंने तत्कालीन अनाचार को ध्यानपूर्वक देखा, उसके दुष्परिणामों को समझा और प्रवाह को बदलने के लिए अपनी संपूर्ण साहसिकता एवं सद्भावना प्रयुक्त करते हुए जुट गए। सदुद्देश्य के लिए जब कोई प्रामाणिक व्यक्ति आगे आता है, अपनी निःस्वार्थ परमार्थ निष्ठा एवं दूरदर्शितापूर्ण रूपरेखा से जनमानस को प्रभावित करता है, तो अगणित साथी, अनुयायी कदम से कदम, कंधे से कंधा मिलाकर साथ चलने के लिए तैयार हो जाते हैं। भगवान बुद्ध चले तो अकेले पर उन्हें साथियों, अनुयायियों की कमी नहीं रही।

भगवान बुद्ध के अवतरण युग में सर्वत्र अवांछनीयता का बोलबाला था। धर्म का आडंबर ओढ़कर अधर्म का नग्न नर्तन चल

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १०८

रहा था। भारतीय धर्म अपना मानव धर्म जैसा शाश्वत स्वरूप खो चुका था। अंधविश्वासों और रूढ़ियों को ही धर्म का पर्यायवाची माना जाने लगा था। गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर विनिर्मित वर्ण व्यवस्था के स्थान पर जन्मजाति की ऊँच-नीच छूतछात पनप गई थी। जातियों-उपजातियों के नाम पर देश के सहस्रों टुकड़े होकर बिखर रहे थे। जातियों के लिए अलग-अलग कानून और अधिकार, सुविधा और प्रतिबंध ऐसे बने थे जिनमें न्याय और औचित्य की बेतरह अवज्ञा की गई थी। ब्राह्मण अत्यधिक सुविधा और सम्मान के पात्र थे। क्षत्रियों को हर तरह की मनमानी करने की छूट थी। शूद्रों और अछूतों के अधिकार लगभग पशुओं जितने ही सीमित रह गए थे। साधना के नाम पर स्वेच्छाचारी तांत्रिक वाममार्ग का बोलबाला था। यज्ञ का पवित्र धर्मकृत्य निरीह पशुओं को भून खाने की भट्ठी मात्र रह गया था। अविवेक और अनाचार की दिशा में बहते हुए इस प्रवाह ने नीति, न्याय और औचित्य का गला घोट दिया था। ऐसे समय में भगवान बुद्ध जन्मे। चारों ओर छाए इस सघन अंधकार को देख उनकी आत्मा छटपटाने लगी। उन्होंने अपनी आहुति देकर अंधकार से लड़ने का निश्चय किया। व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं और महत्वाकांक्षाओं को तिलांजलि देने के बाद ही मनुष्य किन्हीं महान आदर्शों को पूरा कर सकने में समर्थ होता है। बुद्ध ने उसी शाश्वत मार्ग को अपनाया, वे अपने राज-वैभव और पारिवारिक सुख को टुकराकर युग की पुकार को पूरा करने के लिए घर छोड़कर निकल पड़े और निश्चय किया कि वे अपने लिए, अपने छोटे परिवार के लिए नहीं जिएँगे, वरन लोक मंगल के लिए ही इनका समग्र समर्पण होगा।

दूसरा कदम भगवान बुद्ध ने यह उठाया कि अपने को महान प्रयोजन की पूर्ति के लायक क्षमता संपन्न बनाने में जुटा दिया। उन्होंने तप किया, अपने उन दोष-दुर्गुणों को धोया जिनके रहते सार्वजनिक सेवा विषाक्त हो जाती है और हित साधन करने का

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १०९

उद्देश्य उलटा अहित कर परिणाम प्रस्तुत करता है। ज्ञान की साधना परमार्थ परायण व्यक्ति के लिए आवश्यक है। आत्मनिरीक्षण, आत्म सुधार और आत्म विकास की चतुर्विध तपश्चर्या से ही आत्मा को परमात्मा स्तर तक पहुँचाया जा सकता है। इस प्रकार आत्मिक दृष्टि से ऊँचा उठा हुआ व्यक्ति ही स्व-पर कल्याण कर सकने में समर्थ होता है। बुद्ध इस महा सत्य को जानते थे इसलिए वे गृहत्याग के उपरांत बोधि गया में बोधि द्रुम के नीचे बैठकर सत्य का प्रकाश पाने के लिए साधनारत हो गए। यहाँ उन्हें बुधत्व प्राप्त हुआ। वे राजकुमार गौतम से बदलकर भगवान बुद्ध बन गए।

तीसरा कदम बुद्ध का था-धर्मचक्र प्रवर्तन। लोक मानस में छाई हुई काली घटाओं को निरस्त करने के लिए सदज्ञान की ज्योति जलाना अनिवार्य होता है। वही उन्हें भी करना पड़ा। घर-घर जाकर जन-जन से संपर्क बनाना भिक्षावृत्ति अपनाकर ही हो सकता है, सो उन्होंने उसी वृत्ति को धारण किया। अपने को भिक्षु श्रेणी में जा बिठाया। ज्ञान प्रसार का कार्य एकांगी भी नहीं हो सकता था, इसलिए उन्होंने शिष्य, अनुयायी बनाए। जिन्हें परिपक्व पाया उन्हें सदज्ञान का आलोक सर्वत्र फैलाने के लिए परिव्राजक बनाया। यही धर्म चक्र प्रवर्तन अभियान था। भावनात्मक जड़ता की मृत-मूर्च्छित स्थिति से उबारकर सजग और सक्रिय बनाने के लिए आत्मदानी व्यक्तियों को समग्र निष्ठा से जुटना पड़ता है। बुद्ध ने अपने शिष्य इसीलिए बनाए। इसी प्रयोजन को जीवन लक्ष्य की पूर्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन बनाया। उनके प्रभाव और परामर्श के प्रकाश में सहस्रों नर-नारी आगे आए और एक स्थान पर रहकर नहीं देश-देशांतरों में ज्ञान का प्रकाश फैलाने को कटिबद्ध हो गए। धर्म चक्र का अभियान अग्रगामी हुआ और यह 'धर्मविजय' के रूप में सुविस्तृत बन गया। भूतकाल में प्रतापी राजा देश-विजय के लिए निकलते थे, अपना आधिपत्य सुदूर क्षेत्रों में स्थापित करते थे। बुद्ध का अभियान इससे भिन्न था। उन्होंने देश विजय के स्थान पर धर्मविजय की योजना

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ११०

बनाई और उसे किसी देश, धर्म तक सीमित न रखकर विश्वव्यापी बनाने का कार्यक्रम निर्धारित किया।

वाराणसी से उत्तर दिशा में छह मील पर सारनाथ में उन्होंने धर्म चक्र प्रवर्तन किया। तब उनके पास उपयुक्त शिष्यों की संख्या केवल पाँच थी। इतनी कम संख्या के बल पर इतना विशाल प्रयोजन कैसे पूरा हो सकता है, इसकी उन्होंने तनिक भी चिंता नहीं की। वे जानते थे कि यदि आदर्श ऊँचा हो, संचालन दूरदर्शिता पूर्ण हो और कर्मरत मनुष्य भाव भरे हों, तो सदुद्देश्य निश्चित रूप से आगे बढ़ते हैं और अंततः पूर्ण होकर रहते हैं। बुद्ध ने कौडिन्य, वग्न, महानाम, भद्र और अश्वजित नाम के तत्कालीन पाँच शिष्यों को बुलाकर प्रव्रज्या की दिशा दी और कहा—“भिक्षुओ! अब तुम जाओ और मनुष्यों तथा देवताओं की भलाई के लिए परिव्राजक बनो। तुम उच्च आदर्शों का प्रचार करो और पवित्र जीवन जीने की विद्या समझाओ।”

बौद्ध धर्म मध्यम मार्ग का उपदेश देता है। उसमें कट्टरता नहीं है। परिस्थितियों के अनुसार नियम-उपनियमों में थोड़ी शिथिलता बरतने की गुंजाइश है, ताकि हर स्थिति का मनुष्य उसमें प्रवेश कर सके। चरित्र और आदर्शों को तो कड़ाई से पालने पर जोर दिया गया है, पर बाह्य व्यवहार एवं रहन-सहन में थोड़ी भिन्नता रहने पर आपत्ति नहीं की गई। ‘अंगुत्तर निकाय’ में एक जगह वर्णन है—“बज्जी पुत्रक नामक भिक्षु तथागत के सम्मुख उपस्थित हुआ और बोला—“श्रमणों के लिए जो २५० नियम निर्धारित हैं वे मुझसे नहीं सधते।” इस पर भगवान बुद्ध ने कहा—“तब तुम तीन नियमों को पालते हुए अपना धर्म निभाओ।”

बौद्ध धर्म को हिंदू हिंदू धर्म से पृथक् मानना सर्वथा भूल है। भगवान बुद्ध एक सुधारवादी थे। उन्होंने हिंदू धर्म में प्रविष्ट हुई सामयिक विकृतियों का विरोध करके ऋषिप्रणीत भारतीय धर्म के मूलभूत आदर्शों की स्थापना मात्र की है। कोई नया धर्म नहीं चलाया।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १११

उनके समय में तांत्रिक वामाचार का बोलबाला था। देवताओं के नाम पर पशुबलि का घिनौना प्रचलन चल पड़ा था। अनाचार को धर्म का आवरण उढ़ाकर वर्ग भेद, वर्ण भेद के विषवृक्ष उगाए जा रहे थे। ईश्वर भक्ति के नाम पर उपहासास्पद कर्मकांडों का आकाश-पाताल जितना महत्त्व बताया जा रहा था। मनुष्य दास-दासी के रूप में खरीदे-बेचे और दान दिए जा रहे थे, और भी न जाने क्या-क्या हो रहा था। उन दिनों वैदिक धर्म-ब्राह्मण धर्म मात्र बनकर रह गया था। पुरोहित वर्ग और उनके पिछलग्गू लोग ही देवकृपा एवं धर्म-धारणा की आशा करते थे। शेष तो हेय उपेक्षित बना दिए गए थे। यह धार्मिक क्षेत्र में उत्पन्न हुई विकृतियाँ देश के समस्त वातावरण को विषाक्त बनाए हुए थीं। उनका धुआँ पूरे मानसिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक स्तर को कलुषित बनाता चला जा रहा था। बुद्ध ने विषवृक्ष के पत्ते काटने के झंझट में न पड़कर जड़ पर प्रहार किया। भावनात्मक अपकर्ष को समस्त अवांछनीयताओं का उद्गम समझकर उन्होंने सुधार भी वहीं से आरंभ किया। वे जानते थे कि भावनात्मक परिष्कार लाए बिना विभिन्न क्षेत्रों में फैली अगणित विपन्नताओं का और किसी उपाय से समाधान संभव न हो सकेगा। अतः वे समस्त क्रांतियों की जननी भाव क्रांति में जुट गए।

संसार के इतिहासज्ञ और तत्त्ववेत्ता एक स्वर से इस तथ्य का समर्थन करते हैं कि हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म पूर्णतया एक हैं। उनमें भिन्नता एवं पृथकता की कहीं कोई गुंजाइश नहीं है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म हिंदू धर्म की एक सुधरी हुई प्रक्रिया है। इस संबंध में अधिक जानकारी देने वाले कुछ ग्रंथ ये हैं—

(१) इलियट कृत-हिंदू धर्म तथा बौद्ध मत (२) कीप्ले कृत-बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति का प्रभाव (३) लेबी कृत-कनिष्क और शालवाहन (४) मजूमदार कृत-क्लासिकल एज (५) चंद्रगुप्त विद्यालंकार कृत-बृहत्तर भारत (६) पी० बी०

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदाग / ११२

बापट संपादित-बौद्ध धर्म के २५९० वर्ष। इन ग्रंथों के पढ़ने से बौद्ध काल में भारतीय संस्कृति के समस्त एशिया में हुए प्रभाव, विस्तार की अच्छी जानकारी उपलब्ध होती है।

एशिया में बुद्ध धर्म के विस्तार पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथों में से निम्नलिखित दो ग्रंथ भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। (१) एलाइस कृत-दी गाडस आफ नार्दन बुद्धिज्म-देयर हिस्ट्री आइक्रोनोग्राफी एण्ड प्राग्रेसिव इमोल्यूशन थ्रू दि नार्दन बुद्धिस्ट कन्ट्रीज विद ए जनरल इन्ट्रोडक्शन आन बुद्धिज्म (२) स्टोन कृत-हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म।

इन ग्रंथों से यही निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध प्रचारक अपने धर्मविजय अभियान के अंतर्गत संसार भर में भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धांतों का प्रकाश फैलाने के लिए ही गये थे। बौद्ध धर्म में कहीं भी हिंदू धर्म की निंदा नहीं है, केवल थोड़ी सी विकृतियों का ही विरोध किया गया है। अधिकांश मान्यताएँ तो वही ऋषिप्रणीत और शास्त्रसम्मत हैं जो अनादि काल से वैदिक धर्म के अंतर्गत चली आ रही थीं।

बुद्ध का प्रतिपादन तीन सूत्रों में सार रूप से प्रस्तुत किया गया है। “बुद्धं शरणं गच्छामि”, “धम्मं शरणं गच्छामि”, “संघं शरणं गच्छामि”। “हम बुद्धि के विवेक की शरण में जाते हैं।” “हम धर्म की नीति निष्ठा का वरण करते हैं”; “हम संघ बद्ध होकर विकसित होने का व्रत लेते हैं।” विवेक, न्याय और एकता यही हैं वे सूत्र जो बौद्ध धर्म के आधार लक्ष्य हैं, उन्हीं को सनातन वैदिक धर्म का सार भी कह सकते हैं। इस प्रकार वे प्राचीन आर्ष धर्म के पुनरुद्धार कर्त्ता ही कहे जा सकते हैं। उनका अलग से कोई संप्रदाय स्थापित करने का विचार स्वप्न में भी नहीं था। उन्होंने अपने प्रवचनों में स्थान-स्थान पर आर्ष मान्यताओं के ही उद्धरण और प्रमाण प्रस्तुत किए हैं।

हिंदू धर्म में बौद्ध धर्म का जो विरोध दीखता है वह उथला है, उसके अंतराल में एकता के ही तथ्य भरे पड़े हैं। बुद्ध न

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / ११३

संस्कृत ज्ञाता थे और न वेद मर्मज्ञ। उन्हें बताया गया कि हिंसा यज्ञ के लिए आवश्यक है। उन्होंने तत्काल यज्ञ का ही खंडन कर दिया। पंडितों ने कहा—यज्ञ का प्रतिपादन वेद करता है। उन्होंने वेद का खंडन कर दिया। लोगों ने कहा—वेद ईश्वर निर्मित हैं, उन्होंने ईश्वर का खंडन कर दिया। उस खंडन के पीछे विवेक, न्याय और औचित्य का समर्थन है। किसी प्रचलन से उनका कोई द्वेष न था। यदि कोई तत्त्वज्ञानी उन्हें यह बताते कि वास्तविक यज्ञ, वास्तविक वेद और वास्तविक ईश्वर प्रचलित पाखंडपूर्ण प्रतिपादन से भिन्न हैं तो उन्हें उनका खंडन करने की कोई आवश्यकता न पड़ती। उन्हें खंडन-मंडन में नहीं, केवल सत्य के प्रतिपादन में रुचि थी। वे विवेक और न्याय को सर्वोच्च स्थान देने के पक्ष में थे। विवेक विरोधी-ईश्वर, वेद और यज्ञ जैसे सर्वमान्य आधारों को भी उन्होंने अस्वीकार करके अपनी सत्य, निष्ठा एवं साहसिकता का ही परिचय दिया था। विज्ञानों ने यह एक स्वर से स्वीकार किया है कि बौद्ध और हिंदू धर्म एक हैं। भारतीय दर्शन में विचार स्वतंत्रता के लिए पूरी गुंजाइश है। यही कारण है कि यहाँ छह दर्शनों का उद्भव हुआ और उनमें मतभेद स्पष्ट हैं। शैव और वैष्णव धर्म-स्रोत और स्मार्त, आचार-आगम और निगम दर्शन पहले से ही प्रचलित थे। इसी प्रकार बौद्ध धर्म को अधिक से अधिक हिंदू धर्म का सुधरा हुआ रूप भर माना जा सकता है। ईसाई धर्म में भी पुरातन पंथी और सुधार पंथी दो वर्ग हैं। मुसलमानों में भी सिया-सुन्नी का भेद है। इतने पर भी ईसाई धर्म या मुसलमान धर्म दो-दो नहीं माने जाते। ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म को एक ही हिंदू धर्म की दो शाखाओं से अधिक और कुछ नहीं माना जा सकता।

ओल्डेनबर्ग कृत जर्मन ग्रंथ—“फिलासफी डेर उपनिषदेन-डंड आन फाडंगे आन बुद्धिस्मस्स” में बौद्ध मान्यताओं और उपनिषद मान्यताओं को समुतुल्य बताया गया है। अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ११४

हुए ग्रंथकार ने बताया है कि उपनिषदों के प्रतिपादन और बौद्ध सिद्धांतों में तत्त्वतः कोई अंतर नहीं है। केवल पुरानी शैली को नए ढंग से कहा भर गया है।

रहेज डेविड्स कृत—“एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स सेक्ट्स बुद्धिस्ट्स” के उल्लेखानुसार बुद्ध और हिंदू धर्म एक ही वृक्ष की दो शाखाओं की तरह मिल-जुलकर रहे। उनमें कोई विग्रह उत्पन्न नहीं हुआ। ब्राह्मण वर्ग ने अपने निहित स्वार्थों पर आघात पड़ते देखकर विरोध तो किया, पर वह प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष था। वे सैद्धांतिक विरोध न करके व्यक्तिगत लांछन लगाते थे। इस प्रकार अश्रद्धा उत्पन्न करके भावुक लोगों को उस प्रवाह में सम्मिलित होने से रोकना ही उनकी नीति थी। इसका कोई बड़ा प्रभाव नहीं पड़ा। हाँ सफलता के वेग में थोड़ा अड़चन जरूर पैदा होती रही।

यही कारण है कि आज भी समस्त संसार में बौद्ध प्रतिपादनों के सम्मुख मस्तक झुकाया जाता है। अन्य धर्मावलंबी ही नहीं नास्तिक तक उस दर्शन के प्रति अपनी गहन श्रद्धा व्यक्त करते हैं। सर एडविन आर्नोल्ड की ‘दि लाइट आफ एशिया’ में प्रेरक समीक्षा भरी पड़ी है। शोपनहावर, रेनर मेरिया, रिलके जोन, मेसफील्ड, टी० एस० इलियट, एडिथ सिटनैल, डब्ल्यू यीट्स, एडल्स हक्सले, कार्ल गस्टव, जुंग आदि विद्वानों ने अपनी लेखनी से जनसाधारण को बौद्ध सिद्धांतों का प्रेरक-परिचय दिया है। यद्यपि वे ईसाई धर्मावलंबी रहे, पर उनकी लेखनी यह बताती है कि उनकी श्रद्धा बुद्ध धर्म के प्रति अपने धर्म से कम नहीं थी। अनीश्वरवादी कहे जाने वाले आज के दार्शनिक बर्ट्रैंड रसल ने तो यहाँ तक कहा है—“यदि मुझे किसी धर्म का अनुयायी बनना पड़ा तो वह एकमात्र बौद्ध धर्म ही होगा।”

जयदेव के ‘गीत गोविंद’ की अष्टपदी में अवतारों का वर्णन तथा स्तवन है। उसी संदर्भ में एक पद है—

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ११५

निन्दसि यज्ञ विघेर अहह श्रुति जातम्।

सदय हृदय दर्शित पशुघातम्।

केशव धृत बुद्ध शरीर-जय जगदीश हरे॥

“जिस यज्ञ विधि में हिंसा होती थी, उसको हे सत्य हृदय ! आपने निन्दित ठहराया। हे बुद्ध शरीर में अवतरित हुए कृष्ण ! आपकी जय हो।”

उपर्युक्त पद का भाष्य इस प्रकार हुआ है—

“यज्ञस्य विधान बोधकं वेद समूहं निन्दसि—ननु सर्वम् इति अर्थ।”

“बुद्ध केवल पशु हिंसा वाले यज्ञ विधान की निंदा करते हैं। समस्त श्रुति-ज्ञान की नहीं।”

‘गीत गोविंद’ में बुद्धावतार को भगवान् कृष्ण का ही अवतार माना है और उनके बौद्ध रूप की वंदना करते हुए आगे कहा है—

वेदं उद्धरते, जगन् निवहते, भूगोल मुद् विभ्रते।

दैत्यं दारयते, बलि चलयते, क्षत्रं क्षयं कुर्वते॥

पौलत्स्यं जयते, हल कलहते, कारुण्ययात तन्वते।

म्लेच्छां मूर्च्छयते, दशां कुते कृष्णाय तुभ्यं नम॥

कारुण्यं कृपयातन्वते बुद्ध रूपेण विस्तरयते।

“जिन्होंने वेदों का उद्धार किया, जगत को ऊँचा उठाया, धरती का भार सँभाला, असुरों को विदीर्ण किया, बलि प्रथा को बंद किया, क्षत्रपतियों के क्षत्र गिराए, रावण को जीता, हल चलाया, करुणा का विस्तार किया, म्लेच्छों को मूर्च्छित किया। इस प्रकार दश बार अवतार लेने वाले कृष्ण आपको नमस्कार है। आपकी लीला ही बुद्ध रूप में विस्तृत है।”

उस समय अधिकांश व्यक्ति ऐसे थे जिन्होंने परंपरागत ब्राह्मण धर्म को अपनाया था, पर बौद्ध धर्म के पक्के समर्थक थे। इन दिनों जैसे सनातन धर्मी और आर्य समाजी मान्यताएँ एक ही परिवार में या एक ही व्यक्ति में समाहित देखी जा सकती हैं, लगभग उसी प्रकार

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ११६

की बात उन दिनों थी। इसलिए हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म साथ-साथ बढ़े-पनपे। पीछे पुरोहितों ने अपने वर्चस्व और अर्थलाभ को हानि पहुँचते देखकर विरोध को उग्र अवश्य किया, पर सर्वसाधारण के मन पर उस तरह की विरोधात्मक छाप न थी। कुछ समय की चें-चें-में-में के बाद बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म का एक प्रकार से समन्वित आधार बन गया था और उसी को जनता तथा विज्ञ व्यक्तियों ने स्वीकार कर लिया था। गुप्त वंश के शासक यों वैष्णव थे, पर उनकी पूरी सहानुभूति बौद्ध आंदोलन के साथ थी। मथुरा, सारनाथ, नालंदा, अजंता, बाग, धान्यकूट, कन्नौज, कौशल, मगध, ताम्रलिप्ति प्रभृति स्थानों में यों पुरातन हिंदू धर्म का ही प्रचलन था, पर उन स्थानों के बौद्ध केंद्र बनने में किसी ने कोई आपत्ति नहीं की वरन् पूरी सहानुभूति ही दिखाई। राजा हर्षवर्द्धन यों वैष्णव था, पर उसने बौद्ध आचार को पूरी तरह अपना लिया था।

नालंदा विश्वविद्यालय की संसार भर में ख्याति थी और संसार भर के छात्र भारतीय धर्म विज्ञान का अध्ययन करने के लिए आते थे। नालंदा का बौद्ध बिहार उन दिनों पूरी समृद्धि पर था। ऐसी ही धर्म-संस्थाएँ उन दिनों और भी अनेकों थीं। विक्रम शिला, ओदंतपुरी, सोमपुरी, जगददल के महाविद्यालय समृद्ध अध्ययन के केंद्र थे। उनके पुस्तकालय और विद्यालय अनेकों प्रतिभाशाली विद्वान उत्पन्न करते चले जाते थे और इन संस्थाओं द्वारा उत्पादित ज्ञान संपदा से समस्त मानव जाति लाभान्वित हो रही थी? इन शिक्षण संस्थाओं में समस्त हिंदू दर्शन पढ़ाया जाता था। बौद्ध और हिंदू धर्म की समन्वित शिक्षा पद्धति बिल्कुल स्वाभाविक थी, क्योंकि ऐसे ही अनेक दर्शनों को पहले भी हिंदू धर्म का अंग स्वीकार किया जा चुका था। तब अधिक प्रखर बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म का एक अविच्छिन्न अंग मानने में किसी को आपत्ति भी क्या हो सकती थी?

बुद्ध की विचारधारा से मिलते जुलते धर्म प्रवाह उन दिनों जैन संप्रदाय के संस्थापक वर्द्धमान महावीर, आजीवक संप्रदाय के

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / ११७

संस्थापक मंखलि पुत्र गोसोल जैसे कई प्रतिभाशाली धर्मगुरु प्रवाहित कर रहे थे, पर उनका लक्ष्य व्यक्तिगत स्वर्ग-मुक्ति तक सीमित रहने से तप, तितिक्षा, संयम, साधना पर तो बहुत ध्यान दिया गया किंतु धर्म-विजय जैसे अभियान में कोई उत्साह न था। यदि वे सब मिल-जुल कर परमार्थ को भी साधना लक्ष्य में सम्मिलित रखते और तपस्वी लोग उस दिशा में भी प्रयास करते तो निस्संदेह उन सम्मिलित प्रयत्नों से उससे कहीं अधिक कार्य होता जितना अकेले बौद्ध धर्म द्वारा संपन्न हुआ।

बुद्ध ने अपने शिष्यों को जो धर्म दर्शन पढ़ाया उसमें संयम, व्रतशीलता की, साधना की, तपश्चर्या की, आत्मशोधन और आत्मपरिष्कार की दृष्टि से प्रमुखता तो थी, पर धर्मविजय जैसे परमार्थ प्रयोजन की संलग्नता को भी कम महत्त्व नहीं दिया गया था। विश्व मानव को परिष्कृत बनाने में दिए गए योगदान को उन्होंने जीवनलक्ष्य की पूर्ति का अनिवार्य साधन बताया और कहा कि इसके लिए हर धर्मप्रेमी को अपनी-अपनी स्थिति के अनुरूप बढ़-चढ़कर त्याग-बलिदान प्रस्तुत करना चाहिए। इसी दार्शनिक विशेषता के कारण बुद्ध धर्मानुयायियों ने धन से, समर्थन से, सहयोग से उस मिशन को भरपूर सींचा और जो अधिक भावनाशील और साहसी थे, वे आगे बढ़कर आत्मदानी वर्ग में सम्मिलित हो गए। उन्होंने अपनी पात्रता बढ़ाने के लिए तपश्चर्या एवं ज्ञान साधना की और साथ ही इस बात की भी तैयारी जारी रखी कि लोभ की परिधि से ऊपर ऊँचे उठकर धर्म विजय के लिए कठिनतम कष्टों को सहन करते हुए शेष जीवन अविच्छिन्न उत्साह, पुरुषार्थ एवं साहस के साथ व्यतीत करें। उन्होंने सांसारिक सुखों से मुँह मोड़ा, परिवार के मोह को त्यागा, तितिक्षा व्रत धारण किया। हिमाच्छादित दुर्गम प्रदेशों को लाँघा, हिंस्र जंतुओं से भरे जंगलों में होकर राह बनाई, खाद्य सामग्री और जल से रहित लंबे मरुस्थलों को पार किया, कंधे पर चीवर और हाथ में भिक्षापात्र जैसी अपरिग्रही स्थिति स्वीकार

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ११८

की। ऋतु-प्रकोपों को सहते हुए अपरिचित प्रदेशों में प्रवेश किया, छोटी नावों में बैठकर समुद्र यात्राएँ कीं, अजनवी क्षेत्रों की भाषाएँ सीखीं और वहाँ के निवासियों से संपर्क संभव किया। इन धर्मप्रचारकों में सुसंपन्न वर्ग के ऐसे सुयोग्य व्यक्ति थे, जिन्हें प्रचुर सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं और वे इस झंझट में पड़ने की अपेक्षा मौज-मजा की जिंदगी जी सकते थे। बुद्ध स्वयं राजकुमार थे। अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने घर त्यागकर परिव्राजक धर्म स्वीकार किया। यह परंपरा चली सो चलती ही गई।

धर्म क्षेत्र में प्रवेश करने वाले प्रायः स्वेच्छाचार बरतते हैं। वे अपने क्रिया-कलापों पर किसी का नियंत्रण स्वीकार नहीं करते फलतः उस वर्ग में फैली हुई विशृंखलता कोई कार्य नहीं करने देती, धर्म की एक विशेषता उसकी अनुशासनशीलता भी थी। व्यक्तिगत जीवन में श्रवणों को कठोरतापूर्वक रहना पड़ता था और सामूहिक जीवन में वे संघ द्वारा निर्धारित कार्यपद्धति का श्रद्धा भरे अनुशासन के साथ पालन करते थे। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं से, पद-प्रतिष्ठाओं से दूर रहकर ही लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है, यह बात आरंभ से ही मन में भरी जाती थी और कहा जाता था कि जो अपने यश, वर्चस्व के लिए लालायित होगा वही धर्म-चक्र में सबसे बड़ा अवरोध गिना जाएगा। निजी यशस्विता साथियों को गिराकर और अपना कुछ विलक्षण खड़ा करके ही उपलब्ध हो सकती है। जो इसके लिए मरेगा वह धर्मविजय के लक्ष्य को क्षति पहुँचाए बिना न रहेगा। इन आदर्शों को श्रद्धा के साथ अंगीकार करने का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्मप्रचारक निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में आशातीत सफलता के साथ अग्रसर हो सकने में समर्थ बन सके।



समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १११

संप्रदाय नहीं दर्शन, शिष्य नहीं उत्तराधिकारी

भगवान बुद्ध का महानिर्वाण अब से कोई ढाई हजार वर्ष पूर्व हुआ। उनकी २५००वीं निर्वाण शताब्दी मई १९५६ में मनाई गई थी। बोधगया में उत्कीर्ण लेख में यह तिथि ईसा से ५४४ वर्ष पूर्व बताई गई है। ईसा से ६२३ वर्ष पूर्व उनका जन्म हुआ। पिता शुद्धोधन-कौशल राज्य के अधीन शाक्य गणतंत्र के प्रमुख शासक थे। उनकी माता महामाया जब कपिलवस्तु से अपने मायके देवग्रह जा रही थीं, तब लुंबिनी वन में दो साल वृक्षों की छाया में बुद्ध का जन्म हुआ। सम्राट अशोक ने उस जन्मस्थान पर स्मारक बनवाया जो अभी भी उस घटना की साक्षी देता है। लगभग ८० वर्ष की आयु तक वे जीवित रहे। वैशाखी पूर्णिमा उनकी निधन तिथि मानी जाती है। उसी दिन वे जन्मे भी थे। कहते हैं कि जिन दो साल वृक्षों के नीचे उनका जन्म हुआ था, वहीं निर्वाण भी हुआ।

समय की विकृतियों के साथ जूझना बौद्ध अभियान की अपनी विशेषता थी। धर्म-संप्रदायों और साधना केंद्रों की प्रक्रिया व्यक्तिगत जीवन को परिष्कृत बनाने तक की सीमा में अवरुद्ध रहती आई है। उसमें प्राचीन परंपराओं का समर्थन करने का प्रचलन रहा है। बुद्ध ने उस परंपरा को तोड़ा और क्रांतिकारी प्रक्रिया अपनाई। जन्म जाति और ऊँच-नीच के प्रचलन पर उन्होंने कुठाराघात किया। चुंद लुहार, उपलि नाई, अंबपाली वेश्या, मल्लिका शूद्रा का उनके वर्ग में सवर्णों से कम सम्मान नहीं था। ब्राह्मणवाद के आतंक से वे डरे

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १२०

नहीं। यज्ञों में-मंदिरों में प्रचलित पशुबलि का विरोध करके उन्होंने पुरोहित वर्ग को खुली चुनौती दी। वामाचार की-मद्य, मांस, मुद्रा, मैथुन की निकृष्ट भौतिक लिप्साओं को उन्होंने धर्मक्षेत्र की विकृतियाँ घोषित किया और इस संघर्ष में उन्हें पग-पग पर विविध विध संघर्षों का सामना करना पड़ा। पुरोहितों और रूढ़िवादियों ने उन्हें गिराने के लिए बुरी से बुरी दुरभिसंधियाँ करने में कसर न रखी। पर वे आत्म साधना के साथ लोकमंगल के लिए कठोर प्रयत्न करने में अपने मंतव्य से तनिक भी पीछे न हटे।

रचनात्मक कार्यों में बौद्ध प्रवृत्तियों का समुचित सम्मान था। पाठशालाएँ, चिकित्सालय, जलाशय, उद्यान, विश्रामगृह, अन्नक्षेत्र आदि की स्थापना एवं बनवाने में उन्होंने समर्थ व्यक्तियों को पूरा प्रोत्साहन दिया। पशुओं की हत्या और उनके साथ निर्दय व्यवहार को रोकने का समुचित प्रयास किया। ऐसे करुणा-संवर्द्धन के सेवा-साधना भरे कार्यों ने जनसाधारण के मन में और भी अधिक गहरा स्थान प्राप्त किया।

भगवान बुद्ध ने सर्वप्रथम जिन पाँच शिष्यों को शिक्षा दी, उन्हें धर्म चक्र प्रवर्तन के लिए-धर्म विजय के लिए प्रचार-परिव्रज्या पर भेज दिया गया। पाँचों शिष्य विभिन्न दिशाओं में धर्म प्रचार के लिए चल पड़े। स्वयं बुद्ध ने भी एक मंडली बनाई और वे स्वयं भी ज्ञान का आलोक फैलाने के लिए भ्रमण करने लगे। बौद्ध धर्म के "महा-बग" ग्रंथ में इस धर्म चक्र प्रवर्तन के उद्देश्य, स्वरूप और क्रिया-कलाप का विस्तारपूर्वक वर्णन है। मगध राज्य में गया, वेल, राजगृह, नालंदा, पाटलिपुत्र, दक्षिणगिरि, अंधकबिंद, कल्लवाल, सुतागाम स्थानों में बुद्ध के प्रचार कार्य का विस्तृत उल्लेख मिलता है। उन्होंने कौशल राज्य में जाकर भी अपनी प्रक्रिया को विस्तृत बनाया।

बुद्ध के प्रतिपादन इतने प्रखर, तथ्यपूर्ण और न्यायोचित थे कि उन्होंने राजा प्रजा सभी के विवेक को झकझोरा और उस विचारधारा

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १२१

को अपनाने के लिए बाध्य किया। मगध का राजा विंबसार उनका अनुयायी बना। कौशलराज प्रसेनजित ने सपरिवार उनसे दीक्षा ली। अवंति नरेश प्रद्योत, कौशांबी के राजा उदयन ने भी बुद्ध-धर्म ग्रहण किया। राजा ही नहीं उस काल के सभी वर्गों के मूर्द्धन्य व्यक्ति उस प्रतिपादन से प्रभावित होकर अभियान में सम्मिलित हो गए। सुदत अनाथ पिंडक जैसे व्यापारी, यश जैसे समृद्ध नागरिक, काश्यप जैसे विद्वान, जीवक जैसे कुशल चिकित्सक, मौद्गल्यायन जैसे महा पंडित, भद्रा और क्षेमा जैसी प्रतिष्ठित महिलाएँ उस महा अभियान को सफल बनाने के लिए सहयोग देने लगे। बुद्ध द्वारा आरंभ किया गया लोकमानस नवनिर्माण-धर्मचक्र द्रुतगति से अग्रगामी बनने लगा। छोटा बीज अंकुरित होकर किस प्रकार ऊँचा उठता है, इसका जीवंत उदाहरण पाँच से आरंभ हुए धर्म-प्रवर्तन अभियान के कुछ ही दिनों में व्यापक बनने की प्रक्रिया में दृष्टिगोचर होने लगा।

यह धर्म चक्र प्रवर्तन मात्र कुछ के प्रयासों तक ही सीमित नहीं रहा, वरन अन्य अनेक महामानवों ने अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने ढंग से उसे आगे बढ़ाया। वर्द्धमान महावीर उन्हीं दिनों लगभग ऐसा ही प्रयास करने में निरत थे। पीछे इस प्रयास को जैन धर्म नाम दिया गया। भास्त से बाहर भी ये विचार क्रांति लहरें मारने लगीं। लगभग उन्हीं दिनों यूनान में परमेनाइडीस, चीन में लुतजे और कनफ्यूशस, ग्रीस में सुकरात, बैबिलोनिया में ईसा मसीह, ईरान में जरदुस्त ऐसे ही प्रयास करने में संलग्न हुए। क्रांति की हवा सभी दिशाओं में अपने साथ ऐसे दावानल को लेकर फैली कि अंधकार, अनाचार का प्रचलन पग-पग पर रोष एवं तिरष्कार का भाजन बनने लगा।

बुद्ध के जीवन काल में वह अभियान प्रधानतः भारत की सीमाओं में ही रहा, पर उसका क्षेत्र बराबर बढ़ता और व्यापक बनता चला गया। उसमें संभ्रांत लोग शामिल होते चले गए। विचारशील वर्ग ने मुक्त कंठ से उसे सराहा और सहयोग दिया।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १२२

तदनुसार जनता ने भी उसे श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य किया। भद्रक, अनुरुद्ध, किंबिल, भृगु, नंद, आनंद, उपलि जैसे प्रभावशाली लोगों का समर्थन मिला। शाक्य, मल्ल, मगग, कोलिय, वुलि, मौर्य और लिच्छिव देश के लोगों ने सामूहिक रूप में बौद्ध धर्म में प्रवेश किया। वैशाली और कुशीनार के राजाओं का सहयोग इस प्रयोजन में बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

महिलाएँ भी उस महाक्रांति को अग्रगामी बनाने में पूरे उत्साह के साथ आईं। महा प्रजापति गौतमी के प्रभाव से शाक्य वंश की सहस्रों महिलाएँ बुद्ध की अनुगामिनी बनीं। विशाखा और अंबपाली ने उस अभियान में बढ़-चढ़कर भाग लिया। अनाथ पिंडक की पुत्री के अथक प्रयास ने तो सारे भांग प्रदेश को ही उस रंग में रँग दिया। कौशांबी की रानी सामावती ने अपने पति उदयन को बौद्ध-धर्म में दीक्षित कराके ही दम लिया। महिला भिक्षुणियाँ पुरुष भिक्षुओं से किसी भी क्षेत्र में पीछे न थीं। अंबपाली ने अपना विशाल आम्रवन बौद्ध विहार के लिए दान दे दिया।

“अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि बुद्धिज्म एण्ड बुद्धिस्ट स्कूल” ग्रंथ के अनुसार बुद्ध के जीवन काल में ही उनका अभियान महाकच्छ, सुप्पारक, रोरुक, अपारात्र कुरु, भद्र आदि भारत के उत्तर-पश्चिम के राज्यों में पूरी तरह जड़ जमा चुका था। इन राज्यों में अनेकों बुद्ध विहार बन चुके थे।

भगवान बुद्ध ने दूसरे धर्म संस्थापकों की तरह अपनी पूजा कराने या सस्ते स्वर्ग के टिकिट बांटने के लिए छिटपुट कार्यक्रमों का प्रचलन नहीं किया। उन्होंने अपने अनुयायियों को समग्र क्रांति के लिए, सद्धर्म की प्रतिष्ठापना के लिए प्रेरित किया था। अस्तु, उनके अनुयायी अपने धर्मगुरु के न रहने पर भी उस पुनीत प्रक्रिया को अग्रगामी बनाने के लिए उत्साहपूर्वक तत्पर बने रहे। सम्पन्न लोगों ने मुक्त हस्त से अपने खजाने खाली कर दिए। प्रभावशाली लोगों ने अपनी प्रतिभा का पूरा-पूरा

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १२३

लाभ उस मिशन को दिया। विद्वानों ने समर्थन का पहाड़ जितना साहित्य जुटा दिया। प्रचारकों की टोलियाँ अतीव कष्ट सहन करती हुई देश-देशांतरों को प्रयाण करती रहीं। इन सबके समन्वित त्याग-बलिदान का ही प्रभाव था कि बौद्ध धर्म अपने समय में एक अति महत्त्वपूर्ण और अनुपम भूमिका संपादन करने में समर्थ हो सका। दूसरे मत-मतांतरवादियों की तरह यदि बुद्ध धर्म भी गुरुवंदना अथवा कर्मकांडों के टंट-घंट तक सीमित रहा होता तो निश्चय ही बरसाती मेंढकों की तरह उत्पन्न हुए अगणित संप्रदायों की तरह वह भी उपहासास्पद स्थिति में पड़ा रह जाता। थोड़े अंधानुयायियों के अतिरिक्त और कोई उस विडंबना की छाया को छूने के लिए तैयार न होता। बुद्ध धर्म की स्थापना एक क्रांतिकारी अभियान के रूप में हुई थी। अस्तु, उनका नश्वर शरीर न रहने पर भी उस अभियान में कोई शिथिलता नहीं आई वरन चौगुने-सौगुने उत्साह के साथ वह अग्रगामी होता चला गया।

बौद्ध धर्म के सबसे बड़े आश्रयदाता सम्राट अशोक थे। वे शासन व्यवस्था के आवश्यक कार्यों से बची हुई प्रायः संपूर्ण शक्ति धर्म-चक्र-प्रवर्तन में लगाते थे। विदेशों तथा भारत के सुदूर क्षेत्रों में धर्म प्रचार के लिए अभीष्ट यात्रा साधन वे ही जुटाते थे। विद्वानों, प्रचारकों की शिक्षा-दीक्षा के कितने ही विहार बनाने और चलाने का श्रेय उन्हीं को है। नेपाल के राजवंश में उन्होंने अपनी एक पुत्री का विवाह कर उस क्षेत्र में धर्म-चक्र-प्रवर्तन का नया अध्याय खोला। उनके पुत्र और पुत्री लंका आदि देशों में गए और वहाँ संघ की स्थापना की।

धार्मिक स्तर ही नहीं अशोक के प्रयास राजनीति स्तर पर भी जारी रहे। उन्होंने अपने राजदूत अन्यान्य देशों में भेजकर वहाँ के राजाओं को बौद्ध-धर्मानुयायी होने एवं राजाश्रय देने का सफल अनुरोध किया। भारत उन दिनों अनेक स्वतंत्र राज्यों में बँटा हुआ

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १२४

था। उसके कितने ही राजाओं ने आदरपूर्वक अशोक के अनुरोध को स्वीकार किया और अपने देशों में धर्म चक्र-प्रवर्तन के लिए सहयोगात्मक उत्साह दिखाया। भारत से बाहर गांधार, सुवर्ण-भूमि, मलाया, सुमात्रा, सीरिया, मिश्र, मैसेडोनिया, इपिरस, सिरेनिया, यवन आदि देशों में धर्म प्रचार का पथ प्रशस्त होता चला गया। बौद्ध-प्रचारकों की लगन और निष्ठा की जितनी सराहना की जाए उतनी ही प्रशंसा इन राजनीतिक और धार्मिक प्रयत्नों की भी करनी पड़ेगी, जिनके आधार पर प्रचारकों को महत्वपूर्ण सफलताएँ उपलब्ध करना संभव हो सका।

अशोक के बाद राज्याश्रय देने वालों में कनिष्क का नाम आता है। मध्य एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, वर्मा, थाईलैंड, कंबोडिया आदि देशों में धर्म विस्तार का श्रेय कनिष्क की अशोक परंपरा अपनाने वाली निष्ठा को दिया जा सकता है।

भारत में मगध, कौशल, उज्जैनी, मैसूर, कश्मीर, आंध्र, पुलिंद, चोल, पाण्ड्य आदि देशों का राज्याश्रय बौद्धधर्म को उपलब्ध था। नालंदा, वलभी, विक्रमशिला, ओदंतपुरी, विक्रमपुरी, सोमपुरी, मथुरा आदि की समुन्नत शिक्षण संस्थाएँ इन्हीं के सहयोग से चलती थीं। सारनाथ, अजंता, धान्यकूट, साँची, कन्नौज आदि के विशाल देवालय राजकीय संपत्ति से ही निर्मित हो सके थे। सम्राट हर्षवर्द्धन ने इस दिशा में अधिक समर्थ उत्साह दिखाया। मिलिंद (मिना-दर) का नाम भी इसी श्रेणी में आता है। यह ग्रीक था, इसका काल ईसा की पाँचवी शताब्दी माना जाता है। उसका उल्लेख “मिलिंद पन्ह” नामक बौद्धजातक में विस्तारपूर्वक आता है। उसके प्रभाव से कंधार, पेशावर, काबुल घाटी तथा उत्तर भारत के काश्मीर, पंजाब आदि कितने ही प्रदेश बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए।

कनिष्क कुशाणवंशी चीनी तुर्किस्तान का नागरिक था। उसका समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। मध्य एशिया के

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १२५

सुविस्तृत क्षेत्र में तथा भारत के कतिपय क्षेत्रों में उसका राज्य फैला हुआ था। उसने कितने ही विहार तथा चैत्य बनवाए। इनमें पेशावर का स्तूप ४०० फूट ऊँचा था। बौद्धसाहित्य को उसने मध्य एशिया की अनेक भाषाओं में विद्वानों द्वारा अनूदित कराया और उस क्षेत्र के अनेक देशों में धर्मप्रचारक भेजने तथा उन्हें प्रशिक्षित करने के लिए आश्चर्यजनक कार्य किया। कनिष्क के सिक्कों पर भगवान बुद्ध का चित्र अंकित था।

हर्ष देश के राजा हर्षवर्द्धन बौद्धधर्म की निष्ठा में पूरी तरह रँगे हुए थे। वे नालंदा विश्वविद्यालय के संरक्षक थे तथा धर्म चक्र-प्रवर्तन में भारी योगदान देते थे। इनके समय में भारत में ब्राह्मणधर्म और बौद्ध धर्म के बीच संघर्ष चल रहा था, तो भी हर्षवर्द्धन दोनों को परस्पर पूरक और एक ही वृक्ष के दो डालियाँ मानते थे। राज्याश्रय में १००० बौद्ध भिक्षुओं तथा ५०० ब्राह्मण-संतों के लिए निर्वाह तथा शिक्षा की व्यवस्था होती थी। चीनी यात्री युआनच्चांग सन् ६३० से ६४४ तक चौदह वर्ष भारत में रहा। उन दिनों हर्षवर्द्धन का शासन काल था। च्वांग ने हर्ष की धर्मनिष्ठा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है और एक संस्मरण में यह भी लिखा है कि हर्ष ने समस्त राज्यकोष तथा व्यक्तिगत संपत्ति धर्म चक्र-प्रवर्तन के लिए दान करते हुए अपने शरीर के बहुमूल्य वस्त्र तक उतारकर दान कर दिए थे और अंततः अपनी बहन राज्यश्री के दिए वस्त्र को पहनकर दानवेदी से उठा था।

विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत में अपना लूट-खसोट का मनोरथ तो अच्छी तरह से पूरा किया, पर साथ ही वे इस देश की तत्कालीन श्रेष्ठ संस्कृति के सामने परास्त भी होते चले गए। इतिहास में मीनांडर नामक एक ऐसे ग्रीक आक्रमणकारी का वर्णन है जो क्षेत्रविजय में तो सफल रहा, पर धर्म विजय क्षेत्र में पराजित होकर रह गया। बौद्धभिक्षु नागसेन के साथ उसकी लंबी चर्चा दार्शनिक विषयों पर होती रही, फलतः वह इतना प्रभावित हुआ कि बौद्ध-धर्म में ही दीक्षित हो गया।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १२६

एक मीनांडर ही नहीं उन दिनों यूनान के अनेक राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी बन चुके थे। इसका क्रमबद्ध इतिहास तो उपलब्ध नहीं है, पर यूची शासक 'हतिय' के सिक्कों पर शिव और त्रिशूल की मूर्ति छपी रहने से यह स्पष्ट है कि वहाँ भारतीय धर्म का प्रचलन था। ग्रीक और पार्थियन लोगों के लेख प्राकृत भाषा में हैं। उनके सिक्कों पर राजा के धार्मिक होने का उल्लेख है।

कुशानवंशी कनिष्क का अधिकृत प्रदेश उज्जैन तथा साँची से लेकर गोबी मरुस्थल तक फैला पड़ा था। उत्तरी भारत से लेकर चीनी तुर्किस्तान तक उसी का राज्य था। चीनी भाषा के 'धर्मपिटिक निदान सूत्र' में उल्लेख है कि कनिष्क ने पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की और उसे जीता। किंतु जब वह महाभिक्षु अश्वघोष के द्वारा बौद्धधर्म के संपर्क में आया तो उसने जीता हुआ सब कुछ लौट दिया और केवल 'अश्वघोष' नामक विद्वान को तथा भगवान बुद्ध के कमंडल को लेकर हरजाने की भरपाई कर ली, वह स्वयं भी बौद्धधर्म में दीक्षित हो गया।

कनिष्क को वृत्तिक अशोक कहा जाता है। उसने अपने राज्य में बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए भारी प्रयास किया। चीन, तिब्बत, मंगोलिया, खोतान आदि क्षेत्रों से उपलब्ध साहित्य से स्पष्ट है कि उन दिनों कनिष्क को शासनाध्यक्ष के रूप में ही नहीं धर्माध्यक्ष के रूप में भी लोकश्रद्धा उपलब्ध थी। मध्य एशिया में बौद्धधर्म की जड़ जमाने का बहुत कुछ श्रेय कनिष्क को दिया जा सकता है, जिसने प्रचारकों के लिए सभी आवश्यक सुविधा सामग्री उपलब्ध की और प्रजा को उसके अनुगमन के लिए प्रोत्साहित किया। उसने अपनी राजधानी पेशावर में तेरह मंजिला एक बुद्ध स्मारक स्तूप बनवाया जो नौवीं शताब्दी तक खड़ा रहा। उन दिनों उसे संसार की उच्चतम इमारत में गिना जाता था।

वेल्स लिखित 'अंडर लाइन ऑफ हिस्ट्री' में कहा गया है कि यूनान पर बौद्धधर्म का भारी प्रभाव पड़ा। अशोक के २५० वर्ष बाद

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १२७

इस क्षेत्र के जूडिया प्रदेश में ईसा उत्पन्न हुए। उनकी शिक्षाओं पर बुद्ध-दर्शन का प्रभाव अत्यंत स्पष्ट है। अशोक द्वारा यूनान में 'थेराप्यूत' नामक वैद्य भेजे गए। उन्होंने चिकित्सा के साथ-साथ धर्म प्रचार भी जारी रखा। उनके अनुयायियों का 'थेराप्यूत' एक वर्ग भी बन गया। पीछे उनकी चिकित्सा पद्धति पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति का एक अंग बन गई, जिसे 'थेराप्यूटिक्स' कहते हैं। सिकंदरिया के प्रचारकों के साथ-साथ व्यापारी भी पहुँचे और वहाँ उनसे अपनी बस्तियाँ बसाईं। इतिहास लेख क्लेमेंट और क्रिस्टोस्टम के अनुसार सिकंदरिया में कई जाति के भारतीय बड़ी संख्या में रहते थे।

प्रचंड अभियान अकसर आँधी-तूफान की तरह बढ़ते हैं। तब उनके सामने दो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। एक यह कि उनमें कूड़-कचरा आकर मिल जाता है और वह उस पवित्र प्रवाह को गंदा बनाने लगता है। दूसरी यह कि अगणित मनुष्यों के सहकार से आंदोलन चलने के कारण उसकी विभिन्न दिशाओं में खींचातान होती है। कोई प्रवाह को एक दिशा में ले जाना चाहता है तो कोई दूसरी दिशा में। इन दो कठिनाइयों के कारण सदुद्देश्यपूर्ण अभियानों के सामने भी उनके असफल हो जाने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। दूरदर्शी नेतृत्व इन दोनों चट्टानों से बचाकर जहाज को आगे बढ़ाता है।

बुद्ध के नेतृत्व में आरंभ हुई विचार क्रांति को भी इन दो कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उस अभियान में उच्छृंखल तत्त्व घुस पड़े थे और अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उस प्रवाह का उपयोग करना चाहते थे। यदि उनकी बात चलने दी जाती तो उससे चंद स्वार्थी तत्त्वों का व्यक्तिगत लाभ तो खूब होता, पर लक्ष्य की पूर्ति कठिन हो जाती। बुद्ध की मृत्यु के कुछ ही समय उपरांत सुभद्र नामक महत्वाकांक्षी भिक्षु ने खुलेआम कहना शुरू कर दिया, "अच्छा हुआ बुद्ध मर गए। हम लोग उनके चुंगल से छूटे, अब हम स्वच्छंदतापूर्वक जो चाहेंगे सो

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १२८

करेंगे।” इस प्रकार के महत्वाकांक्षी व्यक्ति कम नहीं थे और वे अपना-अपना अलग वर्ग खड़ा करने को उतारू थे। इसी प्रकार विचारक्रांति की मूल दिशा में अस्त-व्यस्तता उत्पन्न करके कोई उसे तंत्र विद्या में, कोई ज्ञान-वैराग्य में, कोई-कोई बहुमूल्य स्मारक निर्माण में, कोई अध्ययन-अध्यापन में सीमाबद्ध करना चाहते थे। इस खींचातान को रोकने के लिए दूरदर्शी विवेकवान लोगों ने समय-समय पर विचारशील लोगों की महापरिषदें बुलाई, जिन्हें ‘संगीति’ नाम दिया गया। इतिहास में ऐसी कई संगीतियों का विवरण मिलता है।

प्रथम संगीति—

मगध के राजा अजातशत्रु के आवाहन पर प्रथम संगीति राज-गृह के समीप सप्तपर्णी गुहा में हुई। इसमें ५०० अर्हंत एकत्रित हुए। सभापतित्व महाकाश्यप ने किया। परिषद सात मास तक चली। इसमें उपलि और आनंद नाम के दो विद्वान भिक्षुओं को बौद्ध दर्शन तथा बौद्ध आचार का एक प्रामाणिक स्वरूप प्रस्तुत करने का कार्य सौंपा गया। भगवान बुद्ध मात्र प्रवचन करते थे। उनके विचारों और निर्देशों को लेखबद्ध करना आवश्यक था। इस प्रथम परिषद को यही महत्त्वपूर्ण कार्य करना था।

द्वितीय संगीति—

स्थविर ‘यश’ ने द्वितीय संगीति वैशाली में बुलाई। यह आठ मास चक चली। इसमें ७०० भिक्षु सम्मिलित हुए। इसका मुख्य उद्देश्य संघ में पड़ी फूट और विशृंखलता का निराकरण करना था। मतभेद बढ़ रहे थे और आक्षेप के कारण उत्पन्न हो रहे थे। भिक्षुओं का आचार गिर रहा था और वे मर्यादाओं को तोड़कर मनमानी करने पर उतारू थे। इसलिए इस संगीति में ऐसे निर्णय किए गए, जिनसे स्वेच्छाचार की संघ द्वारा तथा जनता द्वारा भर्त्सना की जा सके। संघ के सदस्यों को अनुशासन में रहने के लिए बाध्य होना पड़े।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १२९

तृतीय संगीति—

सम्राट अशोक ने बौद्ध क्रांति को विश्वव्यापी बनाने के उद्देश्य से तृतीय संगीति का आयोजन किया। मौदागलि पुत्र तिष्य ने उसका आमंत्रण भेजा। 'अशोकाराम' में एक हजार भिक्षु एकत्र हुए, नौ मास तक यह सम्मेलन चला। 'त्रिपिटिक' का संकलन कार्य वहीं संपन्न हुआ। सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी भारत से बाहर समस्त विश्व में बौद्धदर्शन को व्यापक बनाने के लिए प्रभावशाली कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार करना।

योजना सुनिश्चित हुई और नौ प्रचारक मंडल देश-देशांतरों को भेजे गए। (१) मंज्झांतिक (२) महादेव (३) राकीवत (४) योनधम्म राकीवत (५) महाधम्म राकीवत (६) मज्झिम आदि (७) महा राकीवत (८) सोण उत्तर (९) महिन्द आदि। इन नौ प्रचारकों के नेतृत्व में भिक्षु-मंडलियाँ धर्म विजय के लिए निकल पड़ीं और उन्होंने भारत के सुदूर प्रांतों की तथा विश्व के विभिन्न भागों की यात्राओं के लिए कमर कस ली। गांधार, यूनान, अरब, मिश्र, पेगू, सालमीन, लंका, मध्य एशिया, पूर्वी द्वीप समूह आदि देशों में यह मंडलियाँ कष्टसाध्य यात्राएँ पूरी करती हुई पहुँचीं और उन्होंने दूरवर्ती स्थानों में भाषा संबंधी कठिनाइयों का सामना करते हुए धर्म-संस्थापना में आशातीत सफलताएँ प्राप्त कीं। बौद्धसाहित्य के 'महावंश' और 'दीपवंश' नामक पाली भाषा के प्रामाणिक ग्रंथों में इन यात्राओं का विस्तारपूर्वक वर्णन है। सम्राट अशोक के तेरहवें शिलालेख में भी इन प्रचार यात्राओं का वर्णन है। उसमें लिखा है— धर्म विजय देवताओं की विजय है। अंतिम ओन, तुरूमय, अंतिकिनी, मक, अलिसुंदर, राजाओं ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। चौल, पाण्ड्य, ताम्रपर्णी, योन, कंबोज, नाम पंक्तियों, भोज-पितिनिकों, आंध्र पुलिंदों पर धर्म विजय प्राप्त हुई। इन क्षेत्रों को अब के भूगोल के अनुसार सीरिया, मिश्र, उत्तरी अफ्रीका, ऐपिरस, मेसिडोनिया, लंका, कंबोज, यूनान कहा जाता है।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १३०

‘महावंश’ के अनुसार कश्मीर और गांधार में ८० सहस्र, वनवासी में ६० हजार, अपरांत में २७ हजार, महाराष्ट्र में ८४ हजार, योन में ७० हजार, सुवर्ण भूमि में ६० हजार मनुष्यों ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। इन सभी देशों में बौद्ध विहार स्थापित हुए। उनमें धर्म विजय अभियान को आगे बढ़ाने के लिए बड़ी संख्या में भिक्षु-भिक्षुणियाँ प्रशिक्षण प्राप्त करने लगे।

चतुर्थ संगीति—

महा श्रमण पार्श्व ने कनिष्क के प्रोत्साहन से चौथी संगीति बुलाई। असका आयोजन कश्मीर में श्रीनगर के निकट कुंडल-वन में किया गया। सभापति वसुमित्र थे और उपसभापति अश्वघोष। ५०० विद्वान भिक्षु उसमें सम्मिलित हुए। त्रिमिटिक ग्रंथ के सूत्र, विनय और अभिधर्म अध्यायों पर एक-एक लाख श्लोकों के भाष्य की रचना का निर्णय इसी में हुआ। बौद्धधर्म में जो मतभेद उत्पन्न हो गए थे, उनका निराकरण एवं समन्वय इसी संगीति में किया गया।

चुल्ल बग्ग, महा बग्ग और दीपवंश बौद्ध ग्रंथों में इन संगीतियों का जो विवरण दिया गया है, उसमें कुछ-कुछ मतभेद भी हैं। किस संगीति में कितने भिक्षु एकत्रित हुए, उनकी संख्या इन ग्रंथों में समान नहीं है। कारण और विवरणों में अंतर है। इस मतभेद के आधार पर प्रथम संगीति महाकाश्यप ने बुलाई थी, राजा अजातशत्रु ने उसका प्रबंध कराया था। उन दिनों के संघ प्रमुख आनंद पर जो आक्षेप लगाए जा रहे थे, उनका निराकरण किया गया। दूसरी परिषद में भिक्षुओं ने उच्छृंखलता बरतनी आरंभ कर दी। उन पर दस प्रतिबंध लगाते हुए कठोर आचार संहिता निर्धारित की गई थी। तीसरी परिषद में उच्छृंखलता बरतने वाले भिक्षुओं को संघ से पृथक् किया गया था। चौथी परिषद में विभिन्न देशों के बीच भाषा संबंधी कठिनाई का हल खोजने के लिए संस्कृत को विश्वभाषा घोषित किया गया था।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १३१

इन चार महा परिषदों के अतिरिक्त स्थानीय छोटी-छोटी संगीतियों के भी विवरण मिलते हैं। महावंश के अनुसार लंका में तीन परिषदें हुईं। पहली राजा देवानांप्रिय तिष्य (२४७ से २०७ ईसा पूर्व) के शासन काल में अरिट्ट थेर के सभापतित्व में, राजधानी अनुराधापुर में संपन्न हुई। इसमें अशोक पुत्र महेंद्र भी सम्मिलित हुए। दूसरी राजा बट्टगामणि अभय (१०१-७७ ईसा से पूर्व) के शासन काल में, थेर रक्षित की अध्यक्षता में, अक्षु विहार में। तीसरी सन् १८६५ में, सिंहल रत्नकर में, हिव्क दुवे श्री सुमंगल की अध्यक्षता में।

थाईलैंड (स्याम) में दो परिषदें हुईं। एक चिगमाई में-राजा धर्म चक्रवर्ती तिलक, के शासन काल में, दूसरी बैंकाक में।

माँडले के राजा 'भिनदीन मन' की संरक्षता में प्रथम परिषद हुई, जो राजमहल में पाँच महीने तक चली। इसमें २४०० बौद्ध विद्वान एकत्रित हुए। दूसरी परिषद रंगून में हुई। अभिबज महारथ गुरु भदंत रेवत इसके अध्यक्ष थे। इनमें ५०० भिक्षु सम्मिलित हुए।

लंका, स्याम और बर्मा में हुई उपरोक्त संगीतियों का उद्देश्य सामयिक समस्याओं का समाधान, भावी कार्यक्रमों का निर्धारण एवं धर्म चक्र प्रवर्तन को अधिकाधिक गति देते हुए धर्म विजय के लक्ष्य को अधिक से अधिक समीप लाना था। उपासनात्मक कर्मकांड एवं प्रार्थना प्रवचन भी उनमें होते रहे, पर उन सम्मेलनों का प्रमुख प्रयोजन यही था कि भगवान बुद्ध ने व्यापक अंधकार से जूझने का जो लक्ष्य सामने रखा था, उसमें उनके अनुयायी शिथिलता न आने दें और साहसिक कदम बढ़ाने के लिए संगठित प्रयत्न करें।

भगवान बुद्ध अपने उत्तराधिकार में जो त्याग, बलिदान, साहस और पुरुषार्थ अनुयायियों को दे गए थे, उसे उन्होंने बहुत सँभाल-सँजोकर रखा और मिशन को ही अपना जीवित धर्म गुरु मानकर उसे सींचने के लिए शक्ति भर अनवरत प्रयत्न करते रहे।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १३२

उन दिनों संस्कृत पंडितों की भाषा थी और पाली सामान्य जनों की। पर संस्कृत में भी बौद्ध धर्म को प्रस्तुत करने वाले ग्रंथ लिखे जाते रहे। विद्वानों ने यह साहित्य-सृजन इतने उत्साह के साथ किया कि ब्राह्मण धर्म के ग्रंथों का विस्तार उनके सामने हलका पड़ने लगा।

साहित्य-सृजन की तरह बुद्ध के अनुयायियों में धर्म-संस्थान बनाने के लिए भी बहुत उत्साह रहा। तथागत के जीवन से संबंधित स्थानों में तथा अन्य प्रचार सुविधा के क्षेत्रों में विशालकाय भवन खड़े किए गए। ये केवल स्मारक नहीं थे, वरन उन्हे धर्म चक्र प्रवर्तन के लिए प्रकाश केंद्रों के अनुरूप बनाया गया था। धर्म-प्रचारकों के निवास, निर्वाह, प्रशिक्षण के लिए वहाँ आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध थीं। इन केंद्रों में उन सभी प्रवृत्तियों को विकसित किया जाता था जिससे धर्म धारणा की पुष्टि और विश्वव्यापी प्रचार अभियान की गतिशीलता को समुचित पोषण मिलता रहे।

भारत में भगवान बुद्ध की स्मृति में बने चार स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—(१) लुंबिनी जहाँ वे जन्मे (२) बोध गया—जहाँ आत्मबोध प्राप्त हुआ। (३) सारनाथ—जहाँ प्रथम प्रवचन दिया (४) कुशीनार—जहाँ शरीर त्यागा। इसके अतिरिक्त (१) श्रावस्ती (२) संकाश्य (३) राजगृह (४) वैशाली भी तथागत के समय में धर्म चक्र प्रवर्तन के केंद्र रहे हैं। इन आठों स्थानों को बौद्ध धर्मावलंबी एक प्रकार से तीर्थ मानते हैं और श्रद्धापूर्वक उनकी दर्शन यात्रा करते हैं।

लुंबिनी-नेपाल की तराई में सामिनदेई कसबे के निकट है। बोध गया-हिंदुओं के गया तीर्थ से छह मील आगे है। सारनाथ-वाराणसी के समीप है। कुशीनार-गोरखपुर जिले के कासिया के समीप है। श्रावस्ती-जिसे जैतवन विहार भी कहते हैं, उत्तर प्रदेश के बहराइच नगर से लगभग २० मील दूर है। संकाश्य-सांकिआ-बसंतपुर, फर्रुखाबाद, (उ. प्र.के) देहाती क्षेत्र में है। राजगृह-पटना

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १३३

जिले का राजगीर नगर है। वैशाली-बिहार के मुजफ्फरनगर जिले के बसाढ़ गाँव के समीप था। आठों स्थानों को बौद्ध साहित्य में 'अट्ठ महाठानानि' अष्ट महास्थान कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त भारत में कुछ और भी स्थान ऐसे हैं, जिनसे वहाँ किसी समय बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केंद्र होने का प्रमाण मिलता है। (१) सांची (मुंबई से ५४९ मील) (२) नालंदा (बिहार के राजगीर कसबे से निकट बड़ा गाँव) (३) गिरनार (जुनागढ़, सौराष्ट्र से ७ मील) समीप ही सिद्धसर की गुफाएँ, (४) तलाजा (भावनगर-सौराष्ट्र) समीप ही सांन्हा में ६२ गुफाएँ। (५) बलभी (भावनगर से २२ मील) (६) काम्पिल्य (गुजरात में नवसारी के निकट) महाराष्ट्र प्रांत में-भज, कोण्डाणे, पितलखोर, अजन्ता, बेदसा, नासिक, जुन्नर, कोले, कान्हेरी, गोआ। दक्षिण भारत में-नागार्जुन, कोंडा महिओलु, जगप्प पेटा, गुसिवाडा, घंटिशाल, नागपट्टम, श्रीमूलवासम्, कांचीपुरम् आदि। अमरावती का स्तूप अपने ढंग का अनोखा है। ऐसे सहस्रों स्थान अब भी भारत में जहाँ-तहाँ देखे जा सकते हैं, जहाँ किसी समय बौद्धधर्म की साधना तथा शिक्षा के विशालकाय प्रयासों का सहज ही आभास मिलता है।

अपने समय में भगवान बुद्ध की प्रेरणा और उनके अनुयायियों की उदारता, कर्मठता ने जो कार्य किया उससे एक बार भारत-भूमि में चिर-अतीत की झांकी पुनः होने लगी। लगभग ढाई लाख भिक्षु और भिक्षुणी सृजन सेना के रूप में भावनात्मक नवनिर्माण के लिए जुट गए। उसका सत्परिणाम भारत में सतयुगी परिस्थितियों के रूप में सामने आया और उन दिनों समस्त एशिया में, समस्त विश्व में एक नवीन उल्लास का संचार हुआ। बौद्धधर्म के प्रभाव, प्रसार की अवधि को उस समय का सुखद सौभाग्य काल कहा जा सकता है।



समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १३४

मध्य-एशिया का खोतान-क्षेत्र

बृहत्तर भारत का एक अंग

‘तकला-मकन’ मरुस्थल के दक्षिणी सिरे पर युरंगकाश नदी बहती है। उसकी हरी-भरी सुरम्य घाटी का नाम खोतान है। यह क्षेत्र यारकंद से दक्षिण-पूर्व में लगभग २०० मील है। युरंगकाश और कराकाश नदियाँ इसे सींचती हैं। दोनों नदियाँ जहाँ मिलती हैं, वहीं से उसका सम्मिलित नाम ‘खोतान’ पड़ जाता है। यह आजकल चीनी तुर्किस्तान के अंतर्गत आता है।

इस क्षेत्र पर ईसा से ५३ वर्ष पूर्व राजा विजय-संभव का शासन था। इसके बाद कण्व राजा भूमिमित्र का शासन हुआ। इन्हीं दिनों कश्मीर से अर्हत विरोचन नामक एक बौद्ध भिक्षु खोतान पहुँचा। उसने राजा को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया और प्रजाजनों ने भी उसे उत्साहपूर्वक स्वीकार किया। उसी समय ‘सरमा’ नामक एक बौद्ध बिहार बना और संस्कृत से मिलती-जुलती ‘ली’ भाषा का प्रसार हुआ। तिब्बती सूत्रों में प्रथम बौद्ध राजा विजय-संभव को ही बताया गया है। उनके वंशज विजय-वीर्य ने ‘गन्क्तर’ चैत्य और ‘गोशंग’ बिहार का निर्माण कराया।

इसके बाद इस वंश के ११वें राजा विजय-जय ने चीन की राजकुमारी ‘लुशी’ से अपना विवाह कर लिया। उसके नाम से राजधानी से ६ मील पर ‘लुशी बौद्ध विहार’ बना। इस प्रकार चीनियों को उस प्रदेश में घुस पैठ करने का अवसर मिला और अंततः उस क्षेत्र की आधी आबादी चीनी और आधी भारतीय हो गई।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १३५

विजय-जय के तीन पुत्र थे। इसमें से विजय-धर्म राज्याधिकारी बना, दूसरा धर्मानंद बौद्ध-भिक्षु बन गया। उसने भारत की तीर्थयात्रा की और वापस लौटकर उस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उन्हीं दिनों आठ नए विहार बने। भारत से मंत्र सिद्ध नामक एक प्रकांड विद्वान वहाँ धर्म प्रचार के लिए पहुँचा, उसने 'संगतीर' नामक एक नए विहार की स्थापना की।

सन् ४०४ में चीनी यात्री फाहियान कूचा होता हुआ खोतान पहुँचा। उसने इस क्षेत्र की समृद्धि को भरपूर सराहा है और लिखा है-“यहाँ के सब निवासी बौद्ध हैं। घर-घर के आगे स्तूप बने हैं। उस देश में १४ बड़े संघाराम हैं। पर्वों पर प्रतिमाओं के शानदार जुलूस निकलते हैं, उसके निर्माण में ८० वर्ष लगे हैं। तीन राजाओं के शासन में वह पूरा हो पाया है। स्तूप की ऊँचाई २९० फुट है।”

सन् ५१९ में एक दूसरा यात्री 'सुंगयुंग' खोतान पहुँचा। उसने लिखा-“यहाँ मुरदे जलाए जाते हैं। हड्डियों पर स्तूप खड़ा किया जाता है। मृतक के संबंधी सिर के बाल मुँडते हैं।”

सन् ६४४ में तीसरा यात्री ह्वेनत्सांग खोतान पहुँचा उसने लिखा है-“यहाँ की भाषा भारतीयों से मिलती-जुलती है। लिपि में भी थोड़ा सा ही अंतर है। बौद्धधर्म को मान्यता है। इस क्षेत्र में १६ के करीब संघाराम हैं, यहाँ का राजा बौद्ध है और अपने को वैराचन वंश का कहता है।

तिब्बत के इतिहास से पता चलता है कि सन् १००७ में इस क्षेत्र पर एक चीनी राजा 'लो युल' का आधिपत्य हो गया था। उसने बौद्ध धर्म को उखाड़ने के लिए भारी अत्याचार किए। अंततः भिक्षुगण वहाँ से भाग खड़े हुए और वे तिब्बत तथा गांधार क्षेत्र में छितरा गए। तुर्की इतिहास के अनुसार सन् १००० में तुर्क आक्रांता यूसुफ कादरखां ने इस क्षेत्र पर हमला किया और वहाँ फैले हुए बुद्ध धर्म को उखाड़कर इस्लाम धर्म की स्थापना की। १२५ वर्ष के शासन काल में उन्होंने वहाँ की जनता में से अधिकांश को बलपूर्वक

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १३६

मुसलमान बना लिया। १२१८ में मंगोल आक्रमणकारी चंगेज खाँ ने इस क्षेत्र पर हमला किया, उसने मंगोलिया से लेकर आस्ट्रिया तक अपना आधिपत्य जमाया। इसी सिलसिले में खोतान भी उसके कब्जे में आ गया। उसके बेटे कुवेलई खाँ ने इस प्रदेश को पूरी तरह इस्लाम बना दिया। सन् १८७८ में इस देश पर चीन का कब्जा हो गया, अब वह उसके 'सिनक्यांग' प्रांत का एक प्रमुख अंग बनकर रह गया है।

'दंदान यूलिक' नगर में भी अभी भी चारों ओर बुद्ध अवशेष बिखरे पड़े हैं। खुदाई में एक और बौद्ध मंदिर निकला है, जिसमें खड़ी और बैठी भगवान बुद्ध की कितनी ही प्रतिमाएँ हैं। दीवारों पर तथागत की जीवनचर्या संबंधित भित्तिचित्र हैं। लकड़ी पर गणेश प्रतिमा है। कुबेर वैश्रवण की मूर्तियाँ भी मिली हैं। इसी मंदिर में एक ग्रंथ भी मिला है जो ब्राह्मी लिपि में है। तालपत्रों पर तथा काष्ठ पत्रों पर लिखे और भी लेख हैं।

योतकन नगर के पास समझा (मो० मो० जोह) नामक एक स्थान के समीप स्तूपों के सैकड़ों ध्वंशावशेष अभी भी उपलब्ध हैं। "हो-को" के जर्जरित बिहार में बुद्ध भगवान के दस बड़े चित्र तथा ब्राह्मी लिपि और संस्कृत भाषा में ताल-पत्रों पर लिखे आठवीं शताब्दी के ग्रंथ मिले हैं। इसी में एक शंकरजी का काष्ठ चित्र भी है।

पुरातत्ववेत्ता अर्ल स्टेन ने 'एनशिऐण्ट खोतान'-'इनरमोस्ट एशिया' आदि ग्रंथों में उन अवशेषों और उद्धरणों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है, जिनसे खोतान-क्षेत्र में प्राचीनकाल की बौद्ध संस्कृति पर गहरा प्रकाश पड़ता है। युरंकाश नदी के पश्चिमी किनारे पर बसे रोटकन नगर में जो अवशेष मिले हैं, उनमें भारतीय राजाओं के आठ सिक्के मिले हैं, उनमें से छह काश्मीरी शासकों के हैं और दो काबुल के हिंदू राजा सामंत रबे के हैं। एक मुहर पर गौमाता की छाप है।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १३७

निय नगर में खरोस्ट्री लिपि और संस्कृत भाषा में काष्ठ-पत्रकों पर लिखे लेख मिले हैं। कुछ चमड़े पर भी लिखे हैं। एक स्तूप तो अभी भी वहाँ जीवित अवस्था में खड़ा है, जिसकी दीवारों पर बुद्ध के चित्र बने हैं। एंदेर नगर के समीप रेत के टीले में दबा एक मंदिर मिला है, जिसमें बुद्ध की चार मूर्तियाँ और कुछ रत्नजटित आभूषण भी मिले हैं। एक गणेश चित्र भी है। तिब्बती भाषा में लिखा 'शालिस्तंभ-सूत्र' भी यहाँ प्राप्त हुआ है। 'डलाय मजर' स्थान के आस-पास बौद्ध विहारों के ढेरों अवशेष बिखरे पड़े हैं। 'अर्ककदम तिमि' नगर का जर्जर स्तूप वहाँ किसी समय की बड़ी-चढ़ी बौद्ध संस्कृति का स्मरण दिलाता है। 'अक्सिपिल' के ध्वस्त मंदिर की दीवारों पर तथागत की अभय मुद्रा में मूर्तियाँ बनी हैं। ऐसी ही अन्य कितनी ही टूटी मूर्तियाँ यहाँ उपलब्ध हुई हैं। 'अक्सिपिल' के उत्तर में रेत के टीलों में दबा किसी समय का रबक विहार और स्तूप मिला है। इसमें आदम कद बुद्ध प्रतिमा भी है। भित्तिचित्रों में बुद्ध के जीवन वृत्तांत से संबंधित घटनाएँ अंकित हैं।

इतिहास बताता है कि खोतान को अशोक पुत्र कुस्तन ने ईसा से २४० वर्ष पूर्व बसाया। उसके प्रपौत्र विजय-संभव ने बौद्धधर्म के प्रचार में विशेष रुचि ली और पहला विहार ईसा से २११ वर्ष पूर्व स्थापित हुआ। आठवीं सदी तक इस क्षेत्र में लगभग १००० वर्ष तक बौद्ध धर्म छाया रहा। निय, काल मदन, (चर्चेन) क्रोराइना, लूलन और कोक्कूक (काशनर) उसके प्रमुख केंद्र थे।

आज का चीनी तुर्किस्तान ईसा की प्रथम शताब्दी में चार राज्यों में बँटा था—(१) मरुक (अक्सु) (२) आंग्रदेश (कर शहर) (३) का ओ चंग (४) कूचा। इन चारों में सबसे समृद्ध था 'कूचा', जहाँ बौद्ध धर्म की गहरी जड़ जमीं। चीनी इतिहासकारों ने लिखा है कि उन दिनों कूचा में लगभग एक हजार बौद्ध विहार और मंदिर थे। स्तूपों का जाल बिछा हुआ था। यहीं से शेष तीन राज्यों में प्रचार की योजना बनाई जाती थी।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १३८

बौद्ध साहित्य का क्षेत्र की भाषाओं में अनुवाद कार्य करने के लिए राज्याश्रय से बड़ी राशि प्राप्त होती थी। सहस्रों विद्वान उस कार्य में जुटे रहते थे। इन ग्रंथों को वहाँ के धर्म स्थानों और पुस्तकालयों में सम्मानपूर्ण स्थान मिला। इससे इस विचारधारा के व्यापक बनने में बड़ी सहायती मिली। इससे पूर्व उस क्षेत्र में कन्फ्यूशियस धर्म और ताओ मत फैला हुआ था। निस्संदेह बौद्ध दर्शन उसकी तुलना में अधिक गहरा और अधिक प्रभावोत्पादक था। साथ ही बौद्ध भिक्षु स्वयं जिस प्रकार का आदर्श जीवन व्यतीत करते थे, वह भी कम आकर्षक नहीं था। जनता का हृदय जीतने और बुद्धि को आकर्षित करने में इन दोनों ही कारणों से आशाजनक सफलता प्राप्त हुई। बुद्धिजीवियों ने उसका भरपूर समर्थन और स्वागत किया। विद्वान 'माउतिसड' ने द्वितीय शताब्दी के अंत में एक वार्तिक भाष्य लिखा, जिसमें बौद्ध धर्म के साथ चीन के प्रचलित धर्मों की तुलना की गई और बौद्ध दर्शन को हर दृष्टि से श्रेष्ठ ठहराया। ऐसा ही प्रतिपादन अन्य स्थानीय विद्वानों ने भी किया है। युन कांग-हंडमेन उन-हुआंग आदि से उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इस तथ्य की भली प्रकार पुष्टि होती है।

ईसा की प्रथम सदी में मध्य एशिया के खोतान से लवनौर तक के लंबे प्रदेश में बौद्ध धर्म का बोलबाला था। इस प्रदेश की सरकारी भाषा 'खरोष्ठी' थी, जिसे संस्कृत की ही पुत्री कहा जा सकता है। इलियट कृत 'हिंदुइज्म एण्ड बुद्धिज्म' ग्रंथ से स्पष्ट है कि मध्य एशिया की तारिम घाटी में किसी समय बौद्ध धर्म ही व्याप्त था। उस क्षेत्र की सीमा थी—'उत्तर में 'टीनशान' पर्वत श्रेणी'—दक्षिण में कश्मीर, तिब्बती पठार और कुनलुन पर्वत श्रेणी—पूर्व में चीन, 'ननशन' पर्वत शृंखला—पश्चिम में 'इमोस' पर्वत श्रेणी। इस क्षेत्र को आजकल रूसी और चीनी तुर्किस्तान कहा जाता है। यह ३६ से ४३ अक्षांश ७३ से ९२ देशांश (ग्रीनविच से पूर्व) में स्थित है। तारिम घाटी की पूर्व से पश्चिम तक की लंबाई ९०० मील

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १३९

और उत्तर में कूचा से लेकर दक्षिण में कुनलुन तलहटी तक की चौड़ाई ३०० मील से कम नहीं है। बौद्ध धर्म इस क्षेत्र में मुद्दतों तक फला-फूला।

मध्य एशिया यद्यपि एक विस्तृत क्षेत्र है, किंतु उसका बड़ा भाग मरुस्थलीय है। इसके पूर्व और पश्चिम में 'तकला मकन' का मरुस्थल है, जिसकी सीमा पर निजना, बारकंद एवं तारिम नदियों की घाटियों पर मरुद्यानों (ओसिस) के हरे-भरे मैदान हैं। दक्षिण में कुनकुन पर्वत की तलहटी के ढलवां किनारों पर भी मरुद्यानों की पट्टियाँ हैं। पश्चिम एवं उत्तर में काशगर, यारकंद, कूचा और कर शहर एवं दक्षिण में खोतान के प्रसिद्ध मरुद्यान अवस्थित हैं।

मध्य एशिया के विस्तृत क्षेत्र में बसने योग्य स्थान केवल मरुद्यान ही थे, जिनके इर्द-गिर्द ही विभिन्न जातियों के लोग निवास करते थे, उन्हीं क्षेत्रों में बौद्ध धर्म का प्रचार था। कुछ शताब्दियों तक यह क्षेत्र बौद्ध धर्म एवं संस्कृति के केंद्र बने रहे। अब चीनियों का अधिकार हो जाने से सभी स्थानों के नाम भी बदल गए हैं। अब काशगर को "को शां" कूचा को "फू चिह" यारकंद को "ना-फो वो" निय को "नीजम" तुरफन को "कावचेंग" खोतान को "कुस तन" कहा जाता है। इनमें तारिम घाटी के दक्षिण में खोतान सबसे बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण उद्यान है। सेनर्ट कृत 'खरोष्टी डाक्यूमेंट्स' ग्रंथ में पाँच छोटे राज्यों की चर्चा है जिनके नाम पेपिया, तजक, अमगोक, माहिरी एवं मास्यान थे। इनके राजा 'कुशान' शाही पदवी धारण करते थे। उन्हें महाराज, रायतिराय और देवपुत्र भी कहा जाता था।

बहुत प्राचीन काल में चीन का पश्चिम से संबंध दो व्यापारिक मार्गों द्वारा स्थापित था। ये मार्ग मध्य एशिया होकर जाते थे। चीन की सीमा से तारिम घाटी होकर बलख तक यह मार्ग चले गए थे। इन्हें 'सिल्क मार्ग' कहा जाता था। चीन का रेशम रोमन साम्राज्य के देशों में बड़े पैमाने पर इन्हीं रास्तों से जाता था, इसलिए उनका नाम सिल्क मार्ग पड़ गया था। पहली शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १४०

तक इन रास्तों का व्यवसाय तथा यातायात प्रयोजनों के लिए भरपूर प्रयोग होता था। इनके अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग और था जो भारत और मध्य एशिया को मिलाता था। यह श्रीनगर से गिलगिट होता हुआ काशनगर तक पहुँचता था, भारत से मध्य एशिया में बुद्ध धर्म मुख्यतः इसी मार्ग से गया था।

कान्सू प्रांत में स्थित 'तुन हांग' नगर तीसरी शताब्दी में बौद्ध धर्म के प्रचारकों का प्रमुख केंद्र था। शोधकर्ता इलियट के तत्त्वावधान में फ्रांसीसी पुरातत्ववेत्ताओं ने कुचियन, खोतानी, सीरिक, तिब्बती और संस्कृत भाषाओं के जो प्राचीन ग्रंथ एवं लेख उपलब्ध किए हैं, उनमें बौद्ध धर्म द्वारा बहुत कठिनाइयों का सामना करके इस मार्ग का निर्माण और उपयोग करने का उल्लेख है। 'सैण्ड बरीड रुइन्स ऑफ खोतान' ग्रंथ में भी इस मार्ग के प्रयोजन, निर्माण और उपयोग की चर्चा है।

बौद्ध इतिहासकार 'बुद्ध घोष' ने इस क्षेत्र का उल्लेख 'कुरुरथ्य' नाम से किया है। उसने अपने ग्रंथ 'पापांक दानी' में भगवान बुद्ध के उपदेशों का प्रचार करने के लिए उत्साही धर्मप्रचारकों के भारत से जाने की चर्चा की है।

परजिटेर कृत 'डायनेस्टीज ऑफ दि कलि एज' (कलियुगीनराजाओं की वंशावलि) में उल्लेख है कि भगवान बुद्ध की मृत्यु के उपरांत सम्राट अशोक ने बौद्ध गुरु मोदगलि पुत्र तिष्य के निर्देशन में 'तृतीय बौद्ध महासभा' (संगीति) बुलाई, जिसमें निश्चय किया गया कि तथागत के धर्म संदेशों का प्रसार करने के लिए विदेशों में धर्म पुरोहित भेजे जाएँ। तदनुसार गांधार के लिए-मच्छांतिक, यूनान में-महारक्षित और लंका में महा महिंद के नेतृत्व में धर्मविजय के लिए प्रचार मंडल भेजे गए। इस निर्णय का उल्लेख टाडनर कृत-'इंगलिश ट्रांसलेशन ऑफ महावंश' में भी है और अशोक के 'तेरहवें शिलालेख' में भी उसकी चर्चा है।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १४१

कनिष्क का राज्य खोतान से लेकर सिंध तक फैला था। तक्षशिला विश्वविद्यालय की वृद्धि उसकी सहायता से ही हुई थी। उसमें छात्रों के अतिरिक्त तीन हजार अध्यापकों तथा प्रचारकों के रहने योग्य कमरे बने थे। मथुरा में कनिष्क की मूर्ति के साथ जो शिलालेख पाया गया है, उससे प्रतीत होता है कि उसका राज्य बढ़ते-बढ़ते मथुरा तक पहुँच गया था।

‘एपीग्राफिका इंडिया’ ग्रंथ के भाग ६ में विस्तारपूर्वक उन प्रमाणों का संकलन है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि मध्य एशिया के सुविस्तृत भाग में बौद्ध धर्म फैला हुआ था। प्राकृत और संस्कृत के अतिरिक्त उस क्षेत्र में खरोष्ठी, उड़गुरु, तोरवारी, खोटानी, कूची, सोगरी आदि जो स्थानीय भाषाएँ प्रचलित थीं, उनमें भी बौद्ध के ग्रंथों का अनुवाद उपलब्ध हुआ है।

पुरातत्ववेत्ताओं ने मध्य एशिया क्षेत्र के पिछले इतिहास पर प्रकाश डालने वाली खोजें बहुत परिश्रमपूर्वक की हैं। कालोनेल बोवर ने भोज पत्रों पर लिखा एक प्राचीन ग्रंथ बहुत कीमत देकर खरीदा था। यह क्षेत्र कृत्र में कुमतुरा स्थान में रेत के नीचे गड़ा हुआ मिला था। यह चौथी शताब्दी का संस्कृत भाषा का ग्रंथ है। फ्रांसीसी विद्वान डुट्रेइल डीरिहन्स ने भी खोतान से ऐसा ही भोजपत्रों पर लिखा हुआ प्राचीन ग्रंथ प्राप्त किया था। यह बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध ग्रंथ ‘धम्मपद’ ग्रंथ है जो प्राकृत भाषा में हैं और खरोष्ठी लिपि में दूसरी शताब्दी में लिखा गया है। इसी प्रकार सर अर्ल स्टेन, व्हान लोकोड, पाल पीलिअर, सेनर्ट, बुहलर, कोनाव आदि विद्वानों ने इस प्रकार की खोज में बहुत प्रयत्न किया है। रूस के क्लेमेन्टज और जापान के काउंट ओनानी भी इन प्रयत्नों में पीछे नहीं रहे हैं। हार्नेल रचित ‘मैनुस्क्रिप्ट रिमेन्स ऑफ बुद्धिष्ट लिटरेचर फाईंड इन तुर्किस्तान’ ग्रंथ में इन खोजों का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

इनके अतिरिक्त एच० डब्ल्यू बेली के ‘बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स’ नान जिओ के ‘ए केटलाग आफ दि चाइनीज ट्रांसलेशन ऑफ

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १४२

दि बुद्धिस्ट ट्रिपिटिक', टी० बेरो के 'दि लेंगुएज ऑफ खरोष्ठी डाक्यूमेंट्स फ्राम चाइनीज तुर्किस्तान', जे० टाकाकुम् कृत 'ए रिकार्ड आफ दि बुद्धिष्ट रिलीजन' आदि ग्रंथों में विस्तारपूर्वक इन खोजों का वर्णन किया गया है, जो प्राचीनकाल में मध्य एशिया के सुविस्तृत क्षेत्र पर प्रकाश डालती हैं। पिछले दिनों इस प्रकार के जो प्रमाण मिले हैं उनकी संख्या ७६४ है।

सत्रहवीं शताब्दी के प्रवासी भारतीयों का बहुत बड़ा समुदाय मध्य एशिया के ताशकंद नगर तथा आस-पास के कसबों में बसा हुआ था। ताशकंद, बुखारा, समरकंद आदि में उनकी कितनी ही कारवाँ सराएँ थीं। 'मारगोलान' 'नेपानगन' में भारतीयों की अच्छी बस्तियाँ बसी हुई थीं। समरकंद और बुखारा की चाय मंडी पर उनका आधिपत्य था।

मध्य एशिया का तुर्किस्तानी भाग पीछे कुछ तो रूस में जुड़ गया और कुछ चीन में। इससे पूर्व उसकी स्थिति स्वतंत्र थी। इस समय वहाँ भारतीय विभिन्न व्यवसायों में लगे थे। जौहरी, स्वर्णकार, व्यापारी, साहूकार, वस्त्र निर्माता, किसान, पुस्तक व्यवसायी आदि वर्गों में भारतीयों की बहुत संख्या थी।

मध्य एशिया में बुद्ध धर्म किस प्रकार बोया गया, उगाया गया और बढ़ाया गया, इस संबंध में अधिक जानकारी देने वाली कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की नामावली इस प्रकार है— (१) अकनुमा कृत—'डिक्शनरी ऑफ बुद्धिस्ट इंडियन प्रापर नेम्स' (२) रतनचंद्र अग्रवाल कृत—'लाइफ ऑफ बुद्धिस्ट मान्कस इन चाइनीज तुर्किस्तान' (३) पी० सी० बागची कृत—'इंडिया एण्ड सेंट्रल एशिया' (४) चारु सियांग कांग कृत—'इंडोचाइनीज रिलेशन्स' (५) हेडिचन कृत—'सेंट्रल इंडिया एण्ड तिब्बत' (६) विलियम माण्टागोमरी कृत—'दि अर्ली एम्पायर्स ऑफ सेंट्रल एशिया' (७) एन० दत्ता कृत—'गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स।'।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १४३

चीनी क्षेत्र में भारत से पहुँचे बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद कब, किस प्रकार, किसके द्वारा हुआ? इसका विवरण जानने के लिए अकनुमा कृत-‘दि कम्पेरेटिव कैटलाग ऑफ चाइनीज आगमाज एण्ड पाली निकायाज’, अनेस्की कृत-‘पाली एलीमेंट्स इन चाइनीज बुद्धिज्म’ आदि ग्रंथों को पढ़ना चाहिए।

बौद्ध धर्म के भारत से मध्य एशिया पहुँचने का मध्य केंद्र काश्मीर रहा है। दोनों देशों के बीच भाषा संपर्क बनाने, संबंधी साधन उपलब्ध कराने की सुविधा कश्मीर से ही संपन्न होती थी। तक्षशिला विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों में काश्मीरी पंडितों का ही बाहुल्य था। कुमारजीव संघभूति, यशस पुष्यन्नात, धर्म यशस, बुद्ध यशस, विमलाक्ष, धर्ममित्र, धर्मक्षेम, जीवगुप्त, धर्मगुप्त, धर्मकंद, अजित गुप्त, काश्यप मातंग, बोधि रुचि, सुधाकर सिंह, उपशून्य आदि उद्भट विद्वान तथा परम नैष्ठिक बौद्ध भिक्षु मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के संस्थापक तथा विस्तारकर्ता माने जाते हैं। इनमें से अधिकांश का परिचय विवरण यही बताता है कि उनमें से कितने ही तो कश्मीर तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र में ही जन्मे थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय का एक बड़ा विभाग इसी प्रयोजन के लिए था कि वह भारत से मध्य एशिया जाने वालों तथा एशिया से भारत आने वालों की भाषा संबंधी कठिनाई को दूर करे, और भौगोलिक तथा सामाजिक स्थिति से परिचय कराए। इतना ही नहीं वह इन लोगों के लिए आवश्यक साधन-सामग्री भी जुटाता था। तक्षशिला में यह विशेषता नालंदा से भी कहीं अधिक थी। नालंदा में इस प्रकार का प्रशिक्षण तो था, पर वह भारत के मध्य में अवस्थित होने के कारण व्यावहारिक दृष्टि से बहुत अधिक कार्य नहीं कर सकता था।

भारतीय धर्मप्रचारकों को इस बात का सदा ध्यान रहा कि वे स्थानीय धर्मप्रचारक तैयार करें। इस दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर ही इतनी बड़ी सफलताएँ प्राप्त कर सकना संभव हो सका और एशिया महाद्वीप का प्रायः आधा भाग बौद्ध धर्म के झंडे के नीचे

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १४४

आकर खड़ा हो सका। 'आन-शी-को' तो बुद्ध की तरह ही एक समृद्ध राज्य के राजकुमार थे, जिन्होंने राजपाट छोड़कर प्रव्रज्या की दीक्षा ली थी। पार्थिया से चलकर वे चीन पहुँचे और राजा-प्रजा के दोनों क्षेत्रों को अपने तप, त्याग तथा प्रवचनों से प्रभावित करते रहे। 'ले केनन बौद्धिक यू० एन० चाइने' ग्रंथ में 'शी को' के कार्य-कलाप पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। 'चिलु किय-चाऊ-अनहियुएन-चियो-काडमोड सियाड-चुत ति-तन को-कांग कि यू' आदि विद्वान मध्य एशिया के ही निवासी थे। स्थानीय परिस्थितियों से अधिक परिचित होने तथा भाषा संबंधी कठिनाई से बचे होने के कारण उनकी सफलताएँ और भी अधिक सुविस्तृत एवं सहज संभव हो सकीं।



समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १४५

चीन-भारतीय संस्कृति के चरणों में

सम्राट अशोक की राज्य सहायता पाकर बौद्ध प्रचारक एशिया, योरोप और अफ्रीका के तीनों महाद्वीपों में पहुँचे और उन्होंने उन क्षेत्रों में धर्म स्थापना आशाजनक सफलता के साथ संपन्न की। कुशान राजा कनिष्क की सहायता से भी धर्म विजय अभियान द्रुत-गति से आगे बढ़ा। उसी संदर्भ में चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार, विस्तार की शृंखला और आगे बढ़ती है।

यों इससे पूर्व भी भारतीय धर्म चीन में मौजूद था। राजकीय धार्मिक और व्यावसायिक आदान-प्रदान हजारों वर्ष से प्रचलित थे। मनस्वी लोग विश्वमंगल की आकांक्षा लेकर समस्त संसार में पहुँचते थे। उसी कार्यक्षेत्र में चीन का काफी महत्वपूर्ण स्थान था। थलयात्रा की व्यवस्था रहने से और उस देशवासियों में सहज धर्मबुद्धि रहने से भारतीयों के लिए यह सुलभ भी था कि वे चीन पहुँचें और उस विशाल भूखंड को समुन्नत बनाने में समुचित योगदान दें। भारत की सीमाओं से लगा होने के कारण थल-मार्ग की सुविधा उन दिनों विद्यमान थी और दूरवर्ती एवं कष्टसाध्य होने पर भी आवागमन अपने क्रम से चलता रहता था।

इतिहासवेत्ता सर डब्ल्यू जोन्स के अनुसार ईसा से पूर्व की शताब्दियों में चीन में हिंदू धर्म संव्याप्त था। चीनी इतिहासवेत्ता ओकाकुश के अनुसार अकेले लोपांग प्रांत में दस हजार हिंदू प्रचारक रहते थे। उनके अनुयायियों की संख्या लाखों में थी। चीनी धर्म पुस्तक 'चोकिंग' में कश्मीर से हिंदूओं के उस देश में पहुँचने और सुव्यवस्थित समाज व्यवस्था बनाने का उल्लेख है। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग आसाम से एक ऐसा नकशा साथ ले गया था, जिसमें तत्कालीन कामरूप शासक भास्कर वर्मन के राज्य विस्तार का

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १४६

अंकन है। इसमें नेफा ही नहीं चीन की मूल भूमि का भी बहुत बड़ा भाग उसी राज्य में सम्मिलित दिखाया गया है। प्राचीन चीन में वर्ण-व्यवस्था, प्रकृति पूजा, श्राद्ध प्रथा, संयुक्त परिवार, योगासन, मंत्र आदि की परंपराएँ हिंदू धर्म की ही देन हैं। ताओ धर्म को हिंदू धर्म की ही एक शाखा कहा जा सके उसमें इतना साम्य है।

मध्य एशिया और चीन के लिए भारत से आवागमन के पाँच भागों का उल्लेख मिलता है—

(१) **पूर्व तुर्किस्तान का मार्ग**—यह चीन और भारत के मध्यवर्ती क्षेत्र में होकर गुजरता था। इसके दो भाग थे। एक 'यू-मान-आन' से और दूसरा 'यांग की आन' से। 'टुएन-हुएन' नगर उस मार्ग का चौराहा तथा महत्वपूर्ण स्थान था। ईसा की दूसरी सदी में बौद्ध प्रचारकों ने इस मार्ग को सुव्यवस्थित बनाया था। तीसरी सदी में यह इस योग्य हो गया था कि सामान्य यात्री इस पर आ-जा सकते थे। जो दूसरा मार्ग 'टुएन-हुए' से तुरफान कारा शहर, कूचा आदि होता हुआ पेशावर पहुँचता था, उसी से चीनी यात्री ह्वेनत्सांग आया था।

(२) **दूसरा मार्ग**—'टुएन हुएन' से पश्चिम की ओर चलकर यारकंद और पामीर को पार करते हुए बलख और पार्थिया तक जाता था। सन् ३९९ में चीनी यात्री फाहियान अपने साथियों सहित उसी मार्ग से भारत आया था। अशोक का निर्वासित राजकुमार इसी मार्ग से खोतान गया था। कश्मीरी विद्वान इसी मार्ग से मध्य एशिया जाते थे।

(३) **आसाम मार्ग**—आसाम से उत्तरी बर्मा होकर यह मार्ग जाता था। सन् ६४२ में चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने इसी मार्ग से आसाम में प्रवेश करके तत्कालीन शासक, भास्कर वर्मन से भेंट की थी। भारतीय भिक्षु काश्यप मातंग और धर्मरक्ष इसी मार्ग से चीन गए थे। यह मार्ग अधिक दुर्गम था, इसलिए सातवीं सदी के बाद इसे छोड़कर यात्रियों ने समुद्र मार्ग को सरल पाया और अपनाया।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १४७

(४) **तिब्बती मार्ग**—भारतीय बौद्धों ने तिब्बत के यातायात के लिए अवरुद्ध घेरे को तोड़कर यह मार्ग बनाया और इस देश के साथ भारतीय संबंध संभव हो सका। उन दिनों तिब्बत को 'भोट' अर्थात् 'दुर्गम क्षेत्र' कहते थे। सातवीं सदी में यह मार्ग खुल जाने से वह अड़चन दूर हुई और नालंदा विश्व विद्यालय के उपाध्याय, पद्म संभव, श्रीघोष जिनमित्र, दानशील, गोधिमित्र, दीपंकर आदि वहाँ पहुँचकर धर्मचक्र-प्रवर्तन का प्रयोजन पूरा कर सके। चीन और भारत के बीच तिब्बत होकर यह एक नया मार्ग खुला। सन् ६२७ में चीनी पर्यटक 'यानचाउ' इसी मार्ग से भारत आया था।

(५) **समुद्री मार्ग**—ईसा की प्रथम शताब्दी में भारतीय जलपोत समुद्र मार्ग से दक्षिण पूर्व एशिया जाने लगे थे और मध्य एशिया का सरल मार्ग तलाश करने में सफल हो चुके थे। अशोक के शिला-लेखों से स्पष्ट है कि कष्टसाध्य थलमार्ग की अपेक्षा बौद्ध प्रचारकों को जलमार्ग अधिक सुविधाजनक लगा था। ये जहाज चीन के बंदरगाह 'टोन किन' और 'कैण्टन' तक पहुँचते थे, पाँचवीं शताब्दी में चीनी यात्री फाहियान लंका, जावा होते हुए समुद्री मार्ग से ही अपने देश को वापस गया था। इसके बाद कश्मीर के राजकुमार गुण वर्मन और उज्जैन के बौद्ध भिक्षु परमार्थ भी इसी रास्ते जावा पहुँचे थे। इस मार्ग ने प्रसार, विस्तार एवं यातायात की सुविधाएँ अन्य मार्गों की अपेक्षा अधिक सुगम बना दीं।

भारत से विदेशों में जाकर जिन विद्वानों ने बौद्ध धर्म के प्रचार-विस्तार में अपने को खपा दिया उनकी संख्या हजारों है, पर इतिहास में जिनका नाम विशेष कर्तृत्व के साथ जुड़ा है, उनमें आचार्य दीपंकर, श्रीज्ञासन, कुमारजीव, परमार्थ, बोधि धर्म, बोधिरुचिका, विशेष उल्लेखनीय है। इन लोगों ने अपनी शिष्य मंडली इसी प्रयोजन के लिए प्रशिक्षित की थी। जिस देश में उन्हें जाना था जिन्हें वहाँ की भाषा, संस्कृति, स्थिति, यात्रा संभावना आदि के संबंध में सुविस्तृत ज्ञान कराने का विशेष प्रबंध किया गया था।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १४८

विक्रमशिला बिहार में अध्ययन करने के उपरांत उन्होंने तिब्बत, सुवर्णद्वीप (आधुनिक सुमात्रा) ताम्रलिप्ति (आधुनिक तामलुक) की मुहिम सँभाली। वे १०८ शिक्षा केंद्रों का संचालन करते थे। वे नालंदा, उदंतपुरी, वज्रासन और विक्रमशिला महाविहारों का अनुकरण करते हुए स्थान-स्थान पर धर्मधारणा तथा प्रचार-प्रक्रिया का प्रशिक्षण करने में निरत थे। तिब्बत उनका कार्यक्षेत्र विशेष रूप से रहा।

कुमारजीव कश्मीरी पंडित थे। उनका काल ३४४ से ४१३ ई० तक का माना जाता है। चीन उनका विशेष कार्यक्षेत्र था, यों इन्होंने मध्य एशिया के खोतान, काशगर, यारकंद तथा तुर्किस्तान के अन्य क्षेत्रों को भी बौद्ध प्रकाश से आलोकित किया था। उन्होंने अपने जीवन काल में तीन हजार से अधिक सुयोग्य धर्मप्रचारक और साहित्य सृजेता तैयार किए थे। उन्होंने वहाँ की भाषाएँ सीखीं और वहाँ के निवासियों को लेखनी तथा वाणी से धर्मनिष्ठ बनाने के लिए अनवरत श्रम किया। बौद्ध धर्म के विस्तार में ऐसे ही नैष्ठिक धर्मप्रचारकों का त्याग-बलिदान काम आया है।

उज्जैन विश्वविद्यालय के छात्र परमार्थ, जिनका दूसरा नाम गुणरत था, चीन चले गए और उस देश की भाषा को संस्कृत तथा पाली में लिखे बौद्ध साहित्य से समृद्ध करने में अनवरत रूप से आजीवन लगे रहे। वे सन् ५४८ में नानकिंग (चीन) पहुँचे। इक्कीस वर्ष कार्यरत रहकर वे सन् ५६९ में उसी देश की भूमि में अपनी मिट्टी को मिला गए। इस अवधि में उन्होंने जितना अनुवाद कार्य किया वह २७५ बड़ी जिलदों में संग्रहीत है।

इसी प्रकार बोधिधर्म का कार्य है। उन्हें धर्मबोधि भी कहते हैं। वे सन् ५२६ में चीन पहुँचे और दस वर्ष कार्य करके सन् ५३६ में उसी भूमि में समा गए। उन्होंने साधनात्मक शिक्षा का बहुत प्रसार किया। चीन के अनेक सम्राटों तथा विभूतिवानों को उन्होंने असाधारण रूप से प्रभावित किया था और उनके द्वारा धर्म प्रचार के अनेकों महत्त्वपूर्ण साधन जुटाए जाने का पथ प्रशस्त किया था।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १४९

इसी शृंखला में दक्षिण भारत से चीन पहुँचने वाले विद्वान बोधिरुचि को भी रखा जा सकता है। वे युवावस्था में ही चीन चले गए थे और शताधिक आयुष्य भोगकर सन् ७२७ में वहीं स्वर्गवासी हो गए। उन्होंने लेखनी, वाणी तथा प्रचार प्रक्रिया से जो कार्य किया उसने चीन को बुद्ध दर्शन के चरणों में श्रद्धावनत बनाने में चिरस्मरणीय भूमिका प्रस्तुत की।

भारतीय बौद्ध भिक्षुओं का प्रवाह चीन की ओर अनवरत रूप से बहता ही रहा। उसमें कमी-वेशी के ज्वार-भाटे भले ही आते रहे हों पर क्रम की निरंतरता अनवरत रूप से चलती रही। ईसा की पाँचवी शताब्दी में संघदेव, बुद्ध भद्र, बुद्धजीव, गुणभद्र, धर्ममित्र, काल यशस, संघवर्मा, धर्मरक्ष आदि के नाम इतिहास के पृष्ठों पर अविस्मरणीय रूप से अंकित हैं। इनके अतिरिक्त उन सहस्रों धर्म-प्रचारकों के नाम अविज्ञात हैं, जिन्होंने धर्मचक्र-प्रवर्तन के लिए अपनी मातृभूमि और स्वजन-संबंधियों का मोह छोड़कर दुर्गम यात्राएँ कीं और चीन में बसकर धर्म प्रचार करते हुए वहीं मर-खप गए।

गुण वर्मन के पूर्वज कश्मीर के राज परिवार में से थे। पर उसके पिता संधानंद बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर एकांत साधना में संलग्न थे। उन्हीं दिनों गुण वर्मन का जन्म हुआ। किशोरावस्था में उसने बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन किया और २० वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण करके धर्म प्रचार के लिए निकल पड़े। पहले वे लंका पहुँचे और उसके बाद जावा पहुँचे। उनके धर्मोपदेशों से प्रभावित होकर जावा नरेश बौद्ध बन गए और उन्होंने अपनी समस्त प्रजा को भी उसका अनुयायी बना दिया। राजाज्ञा प्रसारित हुई—“सभी प्रजाजन गुण वर्मन का आदर करें, हिंसा न करें, धर्मात्मा बनें और भगवान बुद्ध के बताए मार्ग पर चलें।”

सन् ४३१ में गुण वर्मन चीन पहुँचे। राजा ‘संगविन ति’ उनसे स्वयं मिलने आया, उनका राजकीय स्वागत किया और दीक्षा ग्रहण

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १५०

की। उनके लिए जेतवन विहार बनवाया। गुण वर्मन असाधारण विद्वान, तपस्वी और प्रतिभासंपन्न थे। उन्होंने अनुवाद कार्य भी किया, पर उनका मुख्य कार्य घूम-घूमकर धर्म प्रचार करना ही रहा। भारत में घर-घर कहीं-सुनी जाने वाली “सत्यनारायण कथा” की तरह उन्होंने उपदेश के लिए “सद्धर्म पुण्डरीक” कथा प्रचलित की, जिससे धर्म प्रचार का कार्य क्रमबद्ध रूप से चलने लगा। कितने ही धर्मोपदेशक उस कथा-प्रवचन को लेकर जनता में घर-घर अलख जगाने की लिए कटिबद्ध हो गए।

गुण वर्मन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था। चीन में महिला भिक्षुणियों का उद्भव और संगठन। नारी जागरण के पिछड़े क्षेत्र में उनके इस प्रयास से भारी जागृति उत्पन्न हुई। उस देश में ५०० वर्ष से बौद्ध धर्म प्रचलित था, पर उसमें महिलाएँ केवल दर्शक या अनुगामिनी मात्र थीं। वे संगठित रूप से इस महान मिशन के लिए कुछ कर सकें ऐसा कोई प्रयत्न तब तक नहीं किया गया था। गुण वर्मन ने उस अभाव की पूर्ति की। उन्होंने महिला संघ की स्थापना करके उन्हें भी भिक्षुणी बनकर धर्म प्रचार कार्य में निरत होने का अवसर दिया।

गुण वर्मन के उपरांत गुणभद्र, धर्म जालंयश, धर्मरुचि, रत्नमति, बोधिरुचि, गौतम, प्रज्ञा रुचि नामक प्रतिभाशाली एवं उद्भट विद्वान धर्मप्रचारक भारत से चीन पहुँचे। उनका ज्ञान और व्यक्तित्व भी कम प्रखर न था। चीनी जनता को इन लोगों ने हर दृष्टि से प्रभावित किया और इस प्रकार धर्मविजय अभियान की सफलता का पथ अधिकाधिक प्रशस्त होता चला गया।

पेशावर के एक क्षत्रिय सद्गृहस्थ वज्रसार ने अपने प्रतिभाशाली पुत्र को बौद्ध प्रचारक बनाने का संकल्प किया। इस प्रयोजन के लिए उसे विद्वान धर्माचार्य “जिन यश” के संरक्षण में रखा गया, जहाँ उसने अगाध विद्या, प्रतिभा और प्रेरणा प्राप्त की। २० वर्ष की आयु में उसने परिव्रज्या ग्रहण कर ली और धर्म प्रचार के लिए सुदूर देश के लिए रवाना हो गया। उसने चीन को अपना लक्ष्य बनाया

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १५१

और विद्वानों के साथ इस लंबी यात्रा पर चल पड़ा। मार्ग इतना कठिन था कि पाँच रास्ते में ही मर गए और केवल चार ही चीन पहुँच सके। इतने पर भी उन्होंने तनिक भी निराशा नहीं आने दी और वहाँ पहुँचते ही अपने प्रयोजन में जुट गए। इस मंडली की प्रचार शैली बड़ी आकर्षक थी। राजा और प्रजा का उसे भरपूर सहयोग मिला। सन् ५९२ के लगभग चीन में जिनगुप्त के उत्साहवर्द्धक क्रिया-कलापों का वर्णन चीनी इतिहासकारों ने बड़े प्रभावशाली शब्दों में किया है।

चीन में बौद्ध धर्म की जड़ें जमाने वाले विद्वानों में महापंडित कुमारजीव का नाम इतिहासकार अति श्रद्धापूर्वक लेते रहेंगे। कुमारजीव के पिता काश्मीर के राजा के मंत्री थे। वे भिक्षु होकर मध्य एशिया के कूचा नगर में चले गए। वहाँ के राजा ने उन्हें राजगुरु बनाया और साथ ही अपनी पुत्री जीव का विवाह उनसे कर दिया। उनसे जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम कुमारजीव रखा गया। यह लड़का असाधारण रूप से प्रतिभासंपन्न था। आचार्य बुद्धदत्त के तत्त्वावधान में शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद वह चीन चला गया, जहाँ उसका राजकीय स्वागत हुआ और सहयोग मिला। उसने १२ वर्ष बौद्ध साहित्य का अनुवाद चीनी भाषा में करने में लगाए और लगभग १०० ग्रंथों का अनुवाद कर दिया। उसकी भाषा शैली समकालीन चीनी विद्वानों से कहीं अधिक परिष्कृत मानी जाती है। कुमारजीव ने अनुवाद में सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप ऐसे परिवर्तन किए जिन्हें एक दृष्टि से मौलिक और क्रांतिकारी भी कहा जा सकता है।

कुमारजीव के साथ अनुवाद करने में संलग्न शिष्यों में धर्मरक्ष, संघभट्ट, संघदेव, धर्मप्रिय, बुद्धभट्ट, बुद्धजीव आदि कितने ही ऐसे विद्वान थे, जो कुमारजीव के मरने का उपरंत भी ग्रंथ-लेखन कार्य में अविरल श्रद्धा से लगे रहे। कुमारजीव के चीनी शिष्यों में सेगजुई, ताओ युग, तानपिन, सेंगचिन, ताओ हैंग, हु जुई येन, हुई कुआन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। यह प्राणपण से ऐसे प्रयास करते रहे

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १५२

जिससे उनके गुरु के आरंभ किए हुए प्रयत्न में तनिक भी शिथिलता नहीं आने पावे वरन दिन-दिन अभिवृद्धि ही होती रहे।

आठवीं सदी के आरंभ में एक प्रतिभाशाली विद्वान अमोघवज्र चीन पहुँचा। उसने कुमारजीव, बोधिरुचि एवं जिन गुप्त की परंपरा में एक नई कड़ी जोड़ दी। राजा ने उन्हें श्रद्धापूर्वक “त्रिपिटिक भदंत” और “राज्य कणधार” की उपाधियाँ प्रदान कीं। सन् ७७७ में उनका अवसान हुआ। इस अवधि में उन्होंने अनुवाद कार्य और प्रचार प्रशिक्षण इतना अधिक कर लिया जिसे देखकर आश्चर्य होता था। बनारस से पहुँचे गौतम प्रज्ञारुचि की लगन और प्रतिभा भी असाधारण थी। उन्होंने तीन वर्ष की छोटी अवधि में न केवल चीनी भाषा पर अधिकार प्राप्त कर लिया वरन १८ ग्रंथों का अनुवाद भी कर डाला। हराम के रोटी तोड़ने और प्रमाद में समय गवाने वाले, निरुद्देश्य घूमने वाले आज के साधु बाबाओं की उस समय के लगनशील धर्मप्रचारकों से तुलना की जाए तो जमीन आसमान का अंतर दिखाई पड़ता है।

इन धर्मप्रचारकों का प्रभाव चीनी प्रजा तक ही सीमित नहीं रहा वरन राजाओं पर भी पड़ा। उन्होंने इस धर्म चर्चा को रुचिपूर्वक सुना, भिक्षुओं के संपर्क में आए, उनके तपस्वी जीवन को निकट से परखा और पाया कि इतनी उत्कृष्ट निष्ठा अकारण नहीं हो सकती। यदि उस धर्म प्रेरणा में कोई सार न होता तो यह लोग इतना कष्टसाध्य, निस्पृह जीवन क्यों बिताते और क्यों इतनी दुर्गम यात्राएँ करके धर्म संदेश सुनाने के लिए दूरवर्ती देश-देशांतरों में भ्रमण करते? तपस्वी भिक्षुओं के प्रखर व्यक्तित्व से अनेकों राजाओं, विद्वानों और प्रतिभाशाली लोगों ने प्रभावित होकर धर्म दीक्षा ली। फलतः उस देश में धर्म चक्र-प्रवर्तन का क्रिया-कलाप द्रुतगति से अग्रगामी होता चला गया।

चीन के इतिहास ग्रंथ “को-दैन-फिंग-ची” से पता चलता है कि सन् ६५ में चीनी राजा “मिंग्ती” ने बुद्ध धर्म के प्रति बड़ी

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १५३

आकर्षक चर्चा सुनी। अस्तु, पूरा विवरण ज्ञात करने के लिए उसने १८ विद्वानों का एक प्रतिनिधि मंडल भारत भेजा। वह ११ वर्ष अध्ययन के बाद लौटा तो अपने साथ बुद्ध भगवान की एक प्रतिमा अनेक ग्रंथ तथा काश्यप मातंग और धर्मरक्ष नामक दो भिक्षुओं को भी साथ ले गया। प्रतिमा का राजकीय सम्मान किया गया। प्रजा को बुद्ध के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने का राजकीय आदेश दिया गया। यही इतिहास चीन के अन्य १३ ग्रंथों में भी है। यही चर्चा तिब्बत में “तत्था शेल्व्यी मीलन” ग्रंथ में भी अंकित है।

मातंग काश्यप अधिक दिन जीवित न रह सके और चीन में बुद्ध के संदेशों की जानकारी कराने का उत्तरदायित्व धर्मरक्ष पर आया। उसने चीनी भाषा में बुद्ध ग्रंथों के अनुवाद कार्य को प्रधानता दी। पाँच महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का स्वयं अनुवाद किया और भारत के विद्वान भिक्षुओं के जत्थे बुलाए जो श्रमण, सुविनय, स्थविर, चिलुकाक्ष, भिक्षु आर्यकाल आदि के नेतृत्व में चीन पहुँचे। उसके बाद महाबल, धर्मपाल, विघ्न, तुहमान, कल्याण, गोरक्ष आदि विद्वान समय-समय पर वहाँ जाते रहे। उन्होंने लगभग ३५० ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में कर डाला। साथ ही अध्ययन और प्रचार कार्य भी जारी रखा। इन लोगों ने राजा और प्रजा दोनों को समान रूप से प्रभावित किया और बुद्ध धर्म की जड़ें गहराई तक जमाने में कुछ उठा न रखा। तीसरी शताब्दी तक भारतीय बुद्ध हजारों की संख्या में चीन पहुँच चुके थे। उस समय चीन ‘बी’, ‘बू’, ‘शू’ के नामों से तीन भागों में विभक्त था। ‘बी’ की राजधानी ‘लायंग’ थी, ‘बू’ की ‘नानकिंग’। इन पर चिन वंशी राजाओं का अधिकार था। वे बौद्ध धर्म से बहुत प्रभावित थे। फलतः उत्तरी चीन में बौद्ध धर्म का अच्छा विस्तार हुआ। जनता का अधिकांश भाग उसी का अनुयायी बन गया। उन्हीं दिनों अनेक बौद्ध विहार भी बनाए गए। यह क्रम सन् ४०० तक चला।

पाँचवी शताब्दी के आरंभ में तातार और शुंगवंश का अधिकार हो गया। इन्होंने बुद्ध धर्म को चीन से उखाड़ने के लिए बर्बर

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १५४

प्रयत्न किए, पर उससे कुछ बना नहीं। तातार शासक “संग-वन-ति” ने अपने पूर्वजों की बर्बरता का प्रायश्चित्त किया। वह स्वयं ५० राज्याधिकारियों सहित बौद्ध बना और प्रत्येक बड़े शहर में बौद्ध विहार बनवाये। ३५ फीट ऊँची एक प्रतिमा बनवाकर नया कीर्तिमान स्थापित किया। एशिया के अनेक बौद्ध देशों ने अपने प्रतिनिधि मंडल “संग-वन-ति” के इस धर्मोत्साह की प्रशंसा करने के लिए चीन भेजे। भारतीय धर्मप्रचारकों की बड़ी-बड़ी मंडलियाँ उत्साह पूर्वक चीन जाने लगीं। छठी शताब्दी में तीन हजार प्रकांड धर्मप्रचारक चीन में घर-घर जाकर धर्मविजय का अलख जगा रहे थे। एक बौद्ध भिक्षु “बोधिधर्म” ने तो ९ वर्ष तक ऐसी घोर तपश्चर्या की कि उससे चमत्कृत होकर जनता ने और भी अधिक श्रद्धा के साथ धर्म-दीक्षा लेना आरंभ कर दिया।

सन् ५३९ में राजा बू तीने एक विद्वान मंडल बौद्ध ग्रंथ लाने के लिए मगध भेजा। जब मंडल वापस लौटा तो भारतीय तत्ववेत्ता परमार्थ को भी अपने साथ लेता गया। उसने योग शिक्षा, धर्म प्रचार एवं ग्रंथ अनुवाद के तीनों ही क्रिया-कलाप बड़े उत्साह से आगे बढ़ाए।

उत्तरी चीन में सन् ४७७ से ५३४ तक के साठ वर्षों में बौद्ध धर्म की क्या स्थिति थी, इसका विवरण “बौद्ध धर्म और ताओ धर्म संबंधी अभिलेख” पुस्तक में दिया है। उसी से विदित होता है कि “हिज आन वेन ती” के शासन काल में बौद्ध मठों की संख्या ६५७८ थी। “हिज आन बूही” के काल में वह १४२२९ हो गई और अंततः सन् ५३४ में उनकी संख्या ३१७६७ थी। भिक्षुओं की संख्या इस अवधि में ७९३५८ से बढ़ते-बढ़ते २० लाख तक जा पहुँची थी।

चौथी शताब्दी में भी बौद्ध भिक्षुणियाँ क्रियाशील हो चली थीं। भिक्षु बुद्धदान से दीक्षा लेकर “चिंग चिएन” और “आन लिंग

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १५५

शाङ" नामक दो महिलाएँ धर्म-संदेश के क्षेत्र में उतरीं। उन्होंने सन् ३१६ में एक भिक्षुणी मठ "हिआंग" "कुओ" में बनवाया। "पूर्वी त्सिन" वंश का शासन चीन पर ३१७ से ४२० तक रहा। इसके सभी शासक बौद्ध थे। उन्होंने धर्म चक्र-प्रवर्तन में पूरा-पूरा साथ दिया। उन दिनों नानकिंग न केवल शासन सत्ता की वरन धर्म केंद्र की भी राजधानी बना हुआ था। इसी वातावरण में चीन का महान बौद्ध भिक्षु ताओ आन सन् ३१२ में जन्मा और ३८५ तक अपने ७३वर्षीय जीवन में धर्म चक्र-प्रवर्तन के लिए ऐतिहासिक कार्य करता रहा। "शिह शुओ" की पुस्तक में विस्तार पूर्वक वर्णन है कि किन विशेषताओं और कुशलताओं के कारण उसने राजा प्रजा के मन पर बौद्ध धर्म के प्रति अनन्य श्रद्धा की प्रतिष्ठापना की थी। उसने देश भर के सुदूर क्षेत्रों में भ्रमण किया, कितने ही मठों में रहा, साहित्य निर्माण किया और धर्म-संस्थानों की स्थापना की। उसने जितने शिष्य बनाए सबमें कर्मठता कूट-कूटकर भरी थी।

पाँचवीं सदी के अंत और छठी के प्रारंभ में चीन बौद्ध धर्म से इतना सुसंपन्न हो गया कि उसके द्वारा पड़ोसी देशों में धर्म विस्तार का कार्य भली प्रकार संपन्न किया जाने लगा। 'लियांग काल का वृत्तांत', 'दक्षिण चीन का वृत्तांत' ग्रंथों से प्रकट है कि कोरिया का अनुरोध स्वाकीर करके चीन सम्राट ने अपने बौद्ध ग्रंथ उस देश को भेजे थे। ब्रह्मदेश के चित्रकार और मूर्तिकार चीनी अनुभूतियाँ सीखने और समझने चीन गए थे। चीनी राजा 'फूना' हिंदू राजाओं से घनिष्ठता बनाए हुए था। उसने कोचीन और कंबोज से भी घने संबंध बनाए थे। भारतीय राजा जयवर्मा ने चीनी सम्राट को बहुमूल्य उपहार भेजे थे। राजा रुद्र वर्मा का दूत भी सम्राट 'वूती' की सेवा में कुछ धार्मिक उपहार लेकर गया था। उस राजा ने भारत से मंद्रसेन और सुभूति नामक विद्वानों को सादर आग्रह के साथ बुलाकर अपने देश में बसाया था। सुई वंश

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १५६

के शासन काल छठी शताब्दी में उत्तरी चीन में बौद्ध धर्म का विस्तार प्रौढ़ावस्था में जा पहुँचा था। उस समय तक १९५० विशालकाय बौद्ध ग्रंथ चीनी भाषा में अनूदित हो चुके थे। इस कार्य में विशेष योगदान के लिए उज्जैन से नालन्द यशस और विनीत रुचि नामक विद्वान वहाँ पहुँचे थे। उनके साथ ही गांधार से ज्ञानगुप्त भी चल पड़ा था। इस त्रिमूर्ति ने न केवल साहित्य-सृजन का वरन भ्रमण करके प्रवचनों द्वारा धर्मचक्र-प्रवर्तन का कार्य समान उत्साह के साथ संपन्न किया। इसमें चीनी बौद्धों का पूरा-पूरा सहयोग था। यही कारण था कि सम्राट “काओत्सू” के शासन काल सन् ५९४ में संकलित ग्रंथों की सूची “सुई चुंग चिंग मुली” के अनुसार २२५७ तक पहुँच गई थी। उनकी ५०९४ बड़ी-बड़ी जिल्लें थीं। एक-एक ग्रंथ कई-कई जिल्लों में पूरा हुआ था।

सातवीं शताब्दी में भारतीय धर्म प्रचारकों के जत्थे भी बहुत गए थे। प्रभाकरमित्र, अतिगुप्त, नांदी, बुद्धपाल, दिवाकर, देवप्रज्ञा, शुभाकर, शिक्षानंद, बोधरुचि का उल्लेख चीनी ग्रंथों में विशेष रूप से मिलता है।

“लियू हू का जीवन वृत्त” ग्रंथ में लिखा है कि “डानयांग” जिले में “त्सी युंग” नामक दस्यु ने उस क्षेत्र में भारी उत्पात मचा रखा था। असंख्यों को उसने मारा और लूटा था। पीछे वह बौद्ध हो गया और भूतकाल के पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए धर्म चक्र-प्रवर्तन में सहयोग देने लगा। उसने बहुत से मठ और स्तूप बनवाए। मंदिरों में मूर्ति स्थापना करवाई। एक विशाल समारोह किया जिसमें दस हजार व्यक्ति धर्मोपदेश सुनने के लिए एकत्रित हुए। उसके प्रभाव से सहस्रों ने मद्य-मांस त्यागा और बुद्ध धर्म में प्रवेश किया।

परीक्षित बौद्ध ग्रंथों की सूची और ‘वाई राजवंश में बौद्ध धर्म तथा ताओवाद के अभिलेख’ ग्रंथों से प्रकट होता है कि चीन में

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १५७

बौद्ध धर्म ईसा से २०० वर्ष पूर्व ही पहुँच गया। तीसरी सदी में लिखे गए 'वाइलिया ओ' नामक ग्रंथ के लेखक यू हुआन का कथन है कि राजकुमार यू एहची ने पवित्र बुद्ध सूत्रों को गंभीर अध्ययन किया था।

'सत्य पर एक निबंध' नामक चीनी पुस्तक से प्रकट होता है कि तांगवंश के शासक बौद्ध धर्म के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त रहे। सातवीं शताब्दी के सम्राट 'काओत्स' का शासन काल तो बौद्ध धर्म की दृष्टि से स्वर्ण काल कहा जा सकता है। उसने सात प्रख्यात मठों का निर्माण कराया। 'राजमहलों संबंधी अभिलेख' ग्रंथ से प्रकट है कि राजा पर भारतीय भिक्षु प्रभाकर मित्र का असाधारण प्रभाव पड़ा। राजमहलों में भिक्षुओं का बेरोकटोक प्रवेश था। इनकी संतानें भी धर्म चक्र-प्रवर्तन में वैसा ही योगदान देती रहीं। चीन की प्राचीन परंपराओं को तोड़कर एक महिला सिंहासनारूढ़ हुई। सम्राज्ञी वूचाओ ने सन् ६८२ से ७०४ तक २२ वर्ष राज्य किया। उसके शासन काल में बौद्ध धर्म के विस्तार में बहुत योगदान मिला। 'फूता शिह के समाधिलेख' ग्रंथ में पाओ चिह और पूहंग नामक दो ऐसे भिक्षुओं का वर्णन है जिन्हें चमत्कारी सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उन्होंने अपनी अलौकिकता के आधार पर धर्म प्रचार में अपने ढंग से सफलता प्राप्त की। 'चरम चेतना के अभिलेख' पुस्तक में ऐसे ही एक अन्य चमत्कारी संत का वर्णन है।

चेन वंश के कई राजा कहने को तो शासनाध्यक्ष थे, पर वस्तुतः वे बौद्ध संतों जैसा जीवन जीते थे। सम्राट वू तो राजकीय मठ में प्रवेश करके संन्यास भी ले चुके थे। मंत्रियों ने उन्हें बड़ी कठिनाई से मनाकर फिर से राज्य सँभालने के लिए राजी किया था। राजा 'हाउचू' के राज्य का त्यागकर संन्यास लेने की घटना प्रसिद्ध है।

बौद्ध भिक्षु ही नहीं चीनी सम्राट भी धर्म चक्र-प्रवर्तन में भाग लेते थे। राज्याश्रय देकर विहारों की अर्थ व्यवस्था तो वे

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १५८

करते ही थे, उसके अतिरिक्त कितनों ने ही धर्म प्रचारकों के कंधे से कंधा मिलाकर स्वयं भी कार्य किया था। सन् ४८९ में राजकुमार 'त्जीं लिआंग' अपने पिता के राज्य का प्रधानमंत्री भी था। उसने ७२ खंडों में बौद्ध ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ कीं और स्वयं बहुत से निबंध लिखे, जो एक सौ खंडों के सोलह ग्रंथों में संग्रहीत हैं। उसने कितने ही प्रवचन किए थे और भिक्षु सम्मेलन बुलाए थे। 'सार्वभौमिक धर्मोपदेशक मठ' के आयोजन में ५०० धर्म प्रचारकों ने राजकुमार के प्रोत्साहन पर एक दूरगामी योजना बनाई थी। उसने राज्य के बौद्ध कानूनों का प्रचलन किया और अनेक सुयोग्य भिक्षुओं को राज्याधिकारी नियुक्त किया।

भारतीय राजाओं और चीनी राजाओं में भी धर्म प्रचार के आधार को लेकर सहयोगी आदान-प्रदान होता रहा है। अराकान के भारतीय राजा पुष्प वर्मा ने सुंग सम्राट को बौद्ध धर्म के प्रचार में योगदान देने के उपलक्ष्य में भूरि-भूरि प्रशंसा युक्त पत्र लिखे और राजदूतों के माध्यम से उन्हें भेजा था। ऐसे दो पत्र चीनी संग्रहालय में सुरक्षित हैं। एक अन्य भारतीय राजा जीवभद्र ने भी उसी सम्राट को ऐसा ही पत्र भेजा था। उस पत्र में लिखा है—
 “हमारे और आपके देशों के बीच आवागमन में पूरे तीन वर्ष लगते हैं, तो भी हम लोग भावनात्मक दृष्टि से अति निकट हैं। लंका के राजा ने भी चीन-सम्राट को बौद्ध प्रेरणा के संबंध में पत्र लिखा था।”

किसी समय भारत में भव्य मंदिर बनाने का असाधारण उत्साह था। प्रख्यात संत और राजा लोग अपनी विशिष्टता का प्रमाण एवं स्मृति का आधार विशाल मंदिरों के निर्माण को मानते थे। उन्हें अधिकाधिक कलात्मक बनाने के लिए प्रचुर धन और बुद्धि-कौशल लगाते थे। वही परंपरा चीन में भी बुद्ध धर्म के प्रवेश के साथ-साथ चली गई। वहाँ शासकों और संतों ने भगवान बुद्ध के भव्य मंदिर, विहार, चैत्य एवं स्तूप बनाए। शताब्दियों

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १५१

और सहस्राब्दियाँ बीत जाने के कारण उनमें से कितने ही काल-प्रवाह में जराजीर्ण होकर नष्ट हो गए। कितने ही विद्वेषी आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट कर दिये गए और कितने ही उपेक्षा के गर्त में समा गए। इनके ध्वंशावशेष समस्त चीन में बिखरे पड़े हैं। सर्वेक्षण करने से प्रतीत होता है कि उस निर्माण-कार्य पर पूरी तरह भारतीय स्थापत्य कला की छाप थी।

लो यांग का 'श्वेत अश्व मठ' कौशल राज्य के सुप्रसिद्ध 'अनाथ पिण्डाराम' की शैली पर बना है। 'नानकिंग के बौद्ध मंदिरों का विवरण' ग्रंथ में इस मठ के संदर्भ में जो उल्लेख है, उससे स्पष्ट है कि उस निर्माण में न केवल भारतीय मस्तिष्क लगा है वरन यहाँ के कलाकारों का श्रम भी उस कार्य को संपन्न करने में जुटा रहा है। सन् ५१६ ई० में वाई वंश की एक रानी ने 'शाश्वत शांति मठ' बनवाया। 'लो यांग स्थित मंदिरों के उल्लेख' ग्रंथ में उसका जो वर्णन छपा है, उससे विदित होता है कि वह नौ मंजिला था, उसकी ऊँचाई ६०० फीट थी। दस हजार वर्ग फुट से अधिक का उसका घेरा था। सारी इमारत लकड़ी की बनी थी। इसकी स्थापत्य कला भारतीय थी। इससे पहले चीन में उससे बड़ा मंदिर और कोई नहीं बना था।

चीकिआंग प्रांत की झील का आकर्षण मात्र जलनिधि का नहीं है। उसके साथ जुड़े हुए 'लुए फोंग' और 'पाओ सु' नाम के पैगोडा (बौद्ध मंदिर) उसकी शोभा में चार चाँद लगाते थे। पीकिंग की सबसे पुरानी इमारत 'स्वर्गीय शांति-मठ' है। यह छठी शताब्दी में बना था। अभी भी 'पाई हाई' के 'चुंग दु आंग' द्वीप की पहाड़ी पर बना श्वेत पैगोडा अपनी कलाकृति से दर्शकों के आश्चर्यान्वित करता है। यह सब भारतीय स्थापत्य कला के जीवंत नमूने हैं।

मूर्तिकला और गुहा उत्खनन का प्रचलन भी चीन में बौद्ध धर्म के पीछे-पीछे ही भारत से पहुँचा है। वाई वंश के बौद्ध राजा

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १६०

‘बेन चेन’ ने इन दोनों कार्यों की ओर विशेष ध्यान ही नहीं दिया वरन उसने अपने भाई सहित मूर्ति निर्माण में स्वयं श्रम किया। अभी भी लो यांग नगर के निकट ‘ई-चुएंह’ और ‘लुंग मेन’ की तीन-चार गुफा मूर्तियाँ विद्यमान हैं। युनकांग पर्वत पर लगभग एक हजार भव्य मूर्तियाँ मिली हैं। ‘वाई वंश की पुस्तक’ नामक ग्रंथ में उल्लेख है कि तान माओ नामक एक बौद्ध भिक्षु ने वेचाड में पाँच विशाल गुफाएँ बनवाई थीं, और चट्टानें खोदकर ७० और ६० फीट ऊँची दो विशाल प्रतिमाओं का निर्माण संपन्न किया गया था। ई० चुएंह, लुंग मेन और तुंगहु आंग की गुफाओं से लगभग एक हजार प्रतिमाएँ मिली हैं, इसलिए उसका नाम ही ‘सहस्र बौद्ध गुफा’ पड़ गया। ये प्रतिमाएँ मध्य एशिया के तुरफान, कूचा और खोतान के बुद्ध विहारों से मिलती-जुलती हैं। इन गुफाओं का निर्माण ईसा की पाँचवीं से सातवीं शताब्दी तक होता रहा है।

चीन में स्तूपों की भी कमी नहीं। सुई वंश के सम्राट ‘बे ती’ ने सन् ६०१ में तीस भिक्षुओं को विभिन्न स्थानों पर स्तूप बनाने की राजाज्ञा प्रदान की थी। लंबा समय बीत जाने पर भी तत्कालीन भित्तिचित्रों में भी भारतीय चित्रकला की गहरी छाप देखी जा सकती है। उस युग के प्रख्यात चित्रकार कुओ-तान-वाई और कुआ-हा-तो वस्तुतः कोई भिक्षु थे। उन्होंने अपनी तूलिका से भगवान बुद्ध की ही विभिन्न मुद्राओं, आकृतियों और घटनाओं का अंकन करने वाले चित्र ही आजीवन बनाए। ईसा की आठवीं सदी में ‘बू-ताओ-तूजे’ नामक प्रसिद्ध चित्रकार हुआ है। उसने मंदिरों के भित्तिचित्र बनाए। उन्हें भारतीय चित्रकला का चीनी संस्करण ही कहा जा सकता है।

अठारहवीं सदी के आरंभ में सम्राट चिएन लुंग ने समीपवर्ती देशों में बौद्ध धर्म पहुँचाने के लिए विशेष प्रयत्न किया। उसने ‘कांजुर’ ग्रंथ के २७० खंडों का मंगोल भाषा में अनुवाद कराया। सन् १७४० में वह पूर्ण हो गया तो सम्राट ने उसे प्रकाशित कराके

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १६१

मंगोलिया के विद्या केंद्रों में बिना मूल्य पहुँचाया। इसके बाद तिब्बती और मंगोल भाषा में अन्य अनेक ग्रंथ अनूदित और प्रकाशित हुए। इनसे उन देशों में बुद्ध-दर्शन के प्रति अगाध श्रद्धा और गहरी दार्शनिक जानकारी उत्पन्न हुई।

फालिन कृत 'पि ओ न-चेंग अभिलेख' में दक्षिणी चीन के राजवंशों के समय निर्मित बौद्ध विहारों, मंदिरों एवं भिक्षु-भिक्षुणियों का विवरण मिलता है जो इस प्रकार है—

राजवंश	विहार	भिक्षु
पूर्वी त्सिंग	१७५६	२४०००
लिङ सुंग	१९१३	३६०००
ची	२०१५	३२५००
लि आंग	२८४६	८२७००

चीन के उत्तर में मंगोलिया प्रदेश के निवासियों में बौद्ध धर्म आरंभ से ही बहुत लोकप्रिय रहा। मंगोल शासकों ने भी उसमें सहायता की। चंगेज खां के पुत्र कुबेलाई खां और उत्तराधिकारी ओगोतेई खां ने बौद्ध विहारों की यथासंभव सहायता भी की। बौद्ध प्रचारकों के परिश्रम से उस क्षेत्र में धर्मविजय अभियान अधिकाधिक सफल होता गया। १३वीं सदी के अंत में कराई गई शासकीय जाँच-पड़ताल में ऐसा उल्लेख मिलता है कि मंगोलिया समेत समस्त चीन में ४२३१८ मंदिर हैं और उनमें २१३१४८ भिक्षु निवास करते थे। इन दिनों मंगोलों का चीन के अधिकांश भाग पर आधिपत्य हो गया था। उनका शासन १२८० से १३६७ तक रहा। इस अवधि में बौद्ध धर्म फला-फूला ही।

चीन में प्राचीन धर्म ताओ और कनफ्यूशियस का प्रचार था। वे सदा बौद्ध धर्म का विरोध करते रहे और उसे विदेशी धर्म बतलाकर तथा अन्य आक्षेप करके जनता में अश्रद्धा उत्पन्न करते रहे। फिर भी उसका प्रचार विस्तार रुका नहीं। छह सौ वर्षों में उसने अपनी जड़ें जमा लीं और चीन में बौद्ध धर्म विदेशी न रहकर

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १६२

उसका अपना हो गया और सबसे अधिक संख्या उसी की अनुयायी बन गई। राजाओं में से कुछ विरोधी भी रहे, पर अधिकांश का समर्थन और झुकाव ही बना रहा। सातवीं शताब्दी में चीन में अपने भिक्षु ही इतने पर्याप्त हो गए कि उन्हें भारत से उतने विद्वान बुलाने की आवश्यकता नहीं रही जितनी पहले थी। अस्तु, भारतीय प्रचारकों का झुकाव चीन से मुड़कर तिब्बत की ओर बदल गया। उन्होंने चीन की ही भाँति तिब्बत को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने के लिए प्रयास आरंभ कर दिया।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि बौद्ध धर्म को चीन में सहज-सुलभ प्रवेश मिलता चला गया। निस्संदेह उस महान धर्म के उत्कृष्ट सिद्धांतों और प्रचारकों के उज्ज्वल व्यक्तित्वों तथा ज्ञान-भंडार ने उस देश के लोक मानस को जीतने में समुचित सफलता पाई। फिर भी पुरातनवाद और सुधारवाद के बीच सदा-सर्वदा की भाँति वहाँ भी समय-समय पर डटकर संघर्ष होता रहा। प्रतिपक्षियों ने समयानुसार तीखे आक्रमण किए थे, तदनुसार प्रचारकों को निंदा, अपमान से लेकर निर्मम अत्याचारों का शिकार होकर धैर्यपूर्वक प्राण गँवाने तक का साहस दिखाना पड़ा था। ऐसी अग्नि परीक्षा में धर्म चक्र अभियान को बार-बार गुजरना पड़ा। उसके पैर तभी जमे जब वह प्रचारकों की धर्मश्रद्धा को अटूट और अखूट सिद्ध कर सकने में सफल हो सका।

चीन में दो धर्म पहले से प्रचलित थे—(१) ताओ संप्रदाय (२) कनफ्यूशियस संप्रदाय। एक विदेशी धर्म का इतनी तेजी से छा जाना पुराने संप्रदायों को स्वभावतः क्षुब्ध करेगा। वैसा ही हुआ भी। यह विरोध दो रूपों में फूटा। उत्तरी चीन में वह मार-काट, दमन और अत्याचार के शक्ति-प्रयोग तक उतर आया। 'बाई-वु-ही' द्वारा सन् ४४६ से ४४८ में तथा 'चाऊ-बी-ती' द्वारा ५७४ से ५७७ में भिक्षुओं के साथ नृशंसता बरती गई। किंतु दक्षिणी चीन में यह विरोध प्रचार तक ही सीमित रहा। इन विरोधियों में तीन प्रमुख थे—(१) कुहुआन

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १६३

(२) फा-चेन (३) हुन-ची। इन लोगों ने अपने साथियों सहित उग्र प्रचार किया कि बौद्ध धर्म को चीन से निकाल बाहर किया जाए। उस अभियान में कई छोटे राजा भी शामिल हो गए।

‘फु-ई’ नामक कनफ्यूशियस मतानुयायी ने बौद्ध धर्म का घोर विरोध किया और तत्कालीन शासकों को विरोधी बनाने का घनघोर प्रयत्न किया। उसने ‘ली-यु-आन’ और ‘ली-शिह-मिन’ शासकों को फुसलाने में सफलता भी प्राप्त कर ली। तदनुसार भिक्षुओं को पंजीकृत प्रतिबंधित किया गया। राजधानी में तीन और अन्य नगरों में एक-एक मठ चालू रखकर सबको बंद करने का आदेश दिया गया। बात यहाँ तक बढ़ी कि सन् ८१९ में भगवान बुद्ध की उँगुली-अवशेष का जो भव्य प्रदर्शन होने जा रहा था, वह स्थगित कर दिया गया। फुई को एक और साथी मिल गया-हान यु। उसने भी राजा और प्रजा को बौद्ध विरोधी बनाने में कुछ उठा न रखा।

ताओवादी तांग वंशी सम्राट युत्सुंग ने दो बड़े नगरों में चार-चार और शेष हर जिले में एक-एक विहार छोड़कर सबको नष्ट करने का आदेश निकाला और बड़े मंदिरों में बीस तथा छोटे विहारों में ५ भिक्षु छोड़कर सबको अपने घर लौट जाने का आदेश दिया। गिराए गए मठों के मलवे से सरकारी दफ्तर बने। संपत्ति जब्त कर ली और धातुओं की मूर्तियों को गलाकर औजार बनाए गए। ‘तांग वंश की पुस्तक’ बताती है कि इन आदेशों के कारण चालीस हजार मंदिर गिराए गए और ढाई लाख भिक्षु-भिक्षुणियों को फिर से गृहस्थ बनना पड़ा। ‘पंच राजवंशों का इतिहास’ पढ़ने से प्रतीत होता है कि सन् ९०७ में ‘चू-वेन’ के शासनारूढ़ होने की अवधि में पचास वर्ष के दमन ने बौद्ध संस्थाओं की स्थिति बहुत ही दयनीय और दुर्बल बना दी थी।

सत्रहवीं शताब्दी में सम्राट शुन-चिह ने नए बौद्ध मंदिरों के निर्माण और नए भिक्षु-भिक्षुणियों के बनने पर कठोर प्रतिबंध

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १६४

लगाए। न केवल बौद्ध वरन ताओ धर्मानुयायियों पर भी ऐसे ही प्रतिबंध लगाए गए। संन्यासियों को अपने-अपने घर कृषि-उद्योग करने के लिए वापस जाना पड़ा। भिक्षुणियों को घरेलू काम-काज करने के लिए या तो नौकरानियाँ बना दिया गया या वे घर वापस चली गईं। चालीस वर्ष से कम आयु के किसी व्यक्ति को भिक्षु बनने की सुविधा न रही। बिना परीक्षा दिए और प्रमाण पत्र लिए भिक्षु बनने वालों को ८० कोड़े लगाने का कठोर दंड निर्धारित किया गया।

विरोधियों के कुचक्र चलते रहे। सुकरात, ईसा और गांधी की तरह सैंतालीस वृषय भिक्षु 'हुआन-का-ओ' को सन् ४४४ में मौत के घाट उतार दिया गया। ताओवादियों ने 'युआन-वाई काल' के सम्राटों को तरह-तरह के भ्रमों में फँसाकर बौद्ध धर्म विरोधी बना दिया था और भिक्षुओं पर कई तरह के प्रतिबंध लगा दिए थे। 'वाई राजवंश की पुस्तक' से प्रकट होता है कि सन् ४४५ में राज्य मंत्री 'साई हाओ' ने अनेक बौद्ध मठों को गिराया और भिक्षुओं का वध कराया था। 'हिसाओ' सम्राट ने प्रत्येक जिले में २०० से ३०० ही भिक्षु बनने का प्रतिबंध लगा दिया था।

'युआन वंश का इतिहास' पुस्तक बताती है कि 'चांग-आन' नगर में ताओवादियों ने बुद्ध स्तूपों और बोधिसत्व की अवलोकितेश्वर की मूर्तियों को नष्ट किया था। उन्होंने ४८२ बौद्ध मठों पर बलपूर्वक कब्जा कर लिया था। पीछे एक न्याय सभा ने इस बलपूर्वक कब्जे को अमान्य ठहराकर विहारों को वापस कराया।

चीन में हजारों की संख्या में अभी भी बौद्ध विहार मौजूद हैं। कहीं-कहीं मंदिर और कहीं चैत्य हैं। वे प्रायः पर्वतों और छोटे देहातों में हैं। बड़े शहरों में ये धर्म स्थान कहीं-कहीं ही दीखते हैं। बुद्ध प्रतिमाओं में से कितनी ही स्वर्ण विनिर्मित पाई जाती हैं। इन मंदिरों और विहारों में भिक्षुओं की निर्वाह व्यवस्था रहती है। उनमें से कुछ स्थानीय व्यवस्था सँभालते हैं और कुछ परिव्राजक रहकर

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १६५

धर्म प्रचार का कार्य करते हैं। काले रंग के लंबे चोगों को पहने, सिर मुड़ाये भिक्षुओं को अलग से ही पहचाना जा सकता है। उनमें से कितने ही उत्तरीय वस्त्र चीवर ही धारण करते हैं। प्रायः तथागत के जन्मदिन पर लोग भिक्षु दीक्षा ग्रहण करते हैं। इन्हें २५० पालन योग्य नियमों का स्मरण कराया जाता है। चीनी भिक्षु प्रायः मठों में ही निर्वाह करते हैं, उनमें भिक्षा माँगने का प्रचलन नहीं है। विहारों में धर्मशिक्षा की व्यवस्था रहती है।

चीन में पर्वतों के गुहा-मंदिर बहुत अधिक हैं। एकांत साधन और विद्वेषियों से सुरक्षा का ध्यान रखते हुए इन्हें चट्टानों काटकर बनाया गया है।

इन दिनों अच्छी हालत में विद्यमान गुहा-मंदिर तथा बुद्ध विहार भी कितने ही विद्यमान हैं। सिआन नगर के समीप सन् ६४८ का बना हंस चैत्य लगभग वैसा ही है जैसा मगध का हंस चैत्य। उसके बीच में १५ मंजिला स्तूप है। प्राचीन काल में विद्वान 'ईच-चिंग' की अध्यक्षता में यहाँ बौद्ध ग्रंथों के चीनी अनुवाद का कार्य चलता था। चाँग-आन नगर की सिनचंग सड़क पर सन् ५८२ में बना 'चिंगलुंग सु' विहार है। इसमें स्थापित संगमरमर की बुद्ध प्रतिमा कला की दृष्टि से बहुत ही आकर्षक है। शांसि प्रांत के किंगमंग नगर का विहार यद्यपि टूटी-फूटी हालत में है तो भी उसके मुख्य भवन के दोनों स्तंभ तथा प्रतिमाएँ दर्शनीय स्थिति में हैं।

उत्तरी चीन में तांग-हो नदी के सहारे चली गई पर्वत शृंखला 'सहस्र बुद्धि' कहलाती है। इनकी चट्टानों पर जहाँ-तहाँ बुद्ध प्रतिमाएँ बनी हुई हैं। इसी क्षेत्र में अनेक गुहा-मंदिर भी हैं। इनमें जो मूर्तियाँ अवशेष एवं लेख मिले हैं, उनसे पता चलता है कि उनमें से अधिकांश का निर्माण सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। 'चिनान-फु' नगर से कोई दस मील दक्षिण में 'लुंग-तुंग' विहार है, यह पहाड़ियों से घिरा है। इसमें दो

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १६६

गुफाएँ हैं, जिनमें भगवान बुद्ध की प्रतिमाओं के अतिरिक्त धर्मप्रचारक महाकाश्यप, मंजुश्री, आनंद और सामंत भद्र की मूर्तियाँ भी हैं। ये मूर्तियाँ सन् १३१८ की बनी हैं। 'ता-युंग ता' नगर से दस मील पश्चिम में 'पुन्न-कंग' पर्वत श्रेणियों में ऐसी चट्टान काट कर बनाई गई बहुत सी गुफाएँ हैं। इनकी भव्यता पुरातत्ववेत्ताओं के लिए आकर्षण का विषय हैं। उनका निर्माण काल सन् ४५० से ४६० के बीच माना जाता है। इनमें स्थापित बुद्ध प्रतिमाएँ कलापूर्ण हैं। दीवारों पर खुदे हुए शिलालेखों से उनके बनाने का प्रयोजन स्पष्ट होता है। उस समय की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले अन्य प्रमाण-सामग्री भी पुरातत्व विभाग को इनमें मिली हैं। लोपंग नगर के दक्षिण में २२ 'लुंग-मेन' गुफाओं में से अधिकांश काले पत्थर की चट्टानों की हैं। इनमें उपलब्ध प्रतिमाएँ भारतीय कला की हूबहू नकल है। इन्हें ४९३ ई० में बनी माना जाता है। होनान प्रांत को कुंग नगर के समीप पहाड़ियों में उपलब्ध ५ गुहा मंदिरों के 'शि० खु० सु०' कहा जाता है। इनमें उसकी समय की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले शिला लेख मिले हैं।

चीन के तुगहूवांग में ४७६ गुफाएँ विद्यमान हैं जो इस बात की साक्षी देती हैं कि उनमें रहकर बौद्ध भिक्षु कठोर तप करके धर्म चक्र प्रवर्तन के लिए आत्मबल संपादित करते थे। सोलह सौ वर्ष पुराने शंघाई नगर के निकट 'चिन आन सन' मंदिर में महाकाल की प्रतिमा के सम्मुख अभी भी मंगल पाठ होता देखा जा सकता है। हंसारूढ़ ब्रह्मा, वृषभारूढ़ शिव और हाथी पर सवार महाकाल की प्रतिमाएँ हैं। पेकिंग में भी एक महाकाल मंदिर है, जिसका 'महाकाल माओ' नामकरण वर्तमान तानाशाह शासक के नाम पर किया गया है।

चीन में बौद्ध धर्म के विस्तार पर प्रकाश डालने वाले साहित्य में से कुछ पठनीय पुस्तकें निम्नलिखित हैं—(१) एडकिन कृत—

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १६७

‘चाइनीज बुद्धिज्म’ (२) चांड सी क्यांग कृत-‘चीन में बुद्ध धर्म का प्रवेश’ (३) राहुल सांकृत्यायन कृत-‘चीन में बुद्ध धर्म’ (४) पी०सी० बागची कृत-‘इण्डिया एण्ड चाइना’ (५) ‘बुद्धिस्ट मानुमेण्ट्स इन चाइना’।

भारतीय विद्वान स्वयं ही मरते-खपते रहे हों सो बात नहीं। उनकी पैनी दृष्टि धर्मप्रचारक उत्पन्न करने पर भी रही। उन्होंने प्रतिभाशील व्यक्तियों को खोजा, उभारा तथा प्रशिक्षित किया और लगभग अपने ही स्तर तक उनको पहुँचाया। ऐसे प्रशिक्षित शिष्यों में धर्मप्रचारकों में से जिन्होंने चीन एवं मध्य एशिया में महत्त्वपूर्ण कार्य किए उनमें से कुछ नाम इस प्रकार हैं-चीन का ‘चुआनच्यांग’, जापान का ‘कुकई’, ‘शिनरन’, ‘डोजेन’, ‘निचिरेन’।

चीन में उन दिनों धर्म धारणा और ज्ञान-पिपासा चरम सीमा पर थी। यों भारत के बौद्ध भिक्षु उस आकांक्षा का समाधान करने के लिए बाराबर चीन पहुँचते रहे, पर उतने से ही काम नहीं चला। चीनी बौद्ध भिक्षु भी उसी उत्साह के साथ भारत आए और यहाँ रहकर कुछ पढ़ने, सीखने, खोजने और लाने के विचार से उनमें भी लंबी यात्राएँ कीं और कष्ट सहे। चीन से भारत आने वाले ऐसे प्रबल उत्साही भिक्षुओं में ‘फा-हि-यान’ की गणना प्रमुखता के साथ की जाएगी। फा-हि-यान ने अद्भुत धैर्य और उत्कृष्ट प्रयास का नया कीर्तिमान स्थापित किया। हिंस्र-जंतुओं से भरे निविड़ वनों, शुष्क मरु प्रदेशों और हिमाच्छादित पर्वत शिखरों को लाँघता हुआ और मौत से जुझता हुआ वह भारत पहुँचा। उसने भारतभूमि का कोना-कोना छाना और दुर्लभ बौद्ध ग्रंथ प्राप्त किए। तीर्थ दर्शन किए, विद्वानों के चरणों में रहकर बहुत कुछ सीखा, साधन किए और पंद्रह वर्ष की श्रम-साधना के उपरांत जावा होते हुए समुद्र मार्ग से सन् ४१२ में चीन वापस पहुँचा। इस यात्रा में वह अकेला नहीं था। उसके साथ ‘चिह येन’ ‘पाओ युन’ ‘फायोंग’ आदि भिक्षु

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १६८

भी रहे और मिल-जुलकर वे अपना महान प्रयोजन पूरा करने में लगे रहे।

चीनी बौद्ध भिक्षु 'ह्वानत्सांग' सन् ५९६ में जन्मा और ६८ वर्ष की आयु भोगकर सन् ६६४ में स्वर्गवासी हो गया। तेरह वर्ष की आयु में उसने भिक्षु दीक्षा ली थी। धर्म श्रद्धा से विभोर होकर सन् ६२९ में ही वह भारत यात्रा के लिए एकाकी ही निकल पड़ा। दुर्गम पर्वतों, रेगिस्तानों और हिम श्रृंगों के साथ जीवन-मृत्यु की लड़ाई लड़ता हुआ, वह सन् ६३३ में भारत पहुँचा। यहाँ उसने दस वर्ष बिताए। बहुत देखा, सीखा और खोजा। संस्कृत भाषा में प्रवीणता प्राप्त की और अपने साथ ६५७ बौद्ध ग्रंथ लेकर चीन लौटा। 'चांग आना' में उसके प्रवेश पर भारी हर्ष और स्वागत-समारोह मनाया गया। उसने अपने जीवन-काल में ७५ ग्रंथों का अनुवाद संपन्न किया, जिन्हें संस्कृत से चीनी भाषा के अनुवादों में शुद्धता की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट माना जाता है।

फाहियान जो उपलब्धियाँ और स्मृतियाँ साथ लेकर गया उसने अन्य अनेक चीनी बौद्धों को भारत आने के लिए उत्साहित किया और एक के बाद एक जत्थे दल-बल सहित भारत आने लगे। तथागत के जीवनक्रम से संबंधित तीर्थों का दर्शन करना भी इनके लिए कम आकर्षक न था। चिहमेंग, फायोंग, चूचांग आदि के नेतृत्व में चीन से भारत आए जत्थों के क्रिया-कलाप भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन लोगों ने भी फाहियान का अनुसरण किया और बहुमूल्य धर्म-संपदा संग्रह करके वापस लौटे। इन यात्रियों ने अपने जो विवरण, संस्मरण लिखे हैं, उनसे भारत की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है और प्रतीत होता है कि यहाँ के प्रबुद्ध वर्ग की भावनाएँ किस प्रकार धर्मचक्र-प्रवर्तन, लिए बहुत कुछ कर गुजरने के लिए हिलोरें ले रही थीं।

ह्वानत्सांग की तरह ही एक दूसरा दुस्साहसी बौद्ध भिक्षु ईत्सिंग हुआ है। वह ६३४ में जन्मा १४ वर्ष की आयु में भिक्षु

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १६९

बना। अध्ययन और साधन में निरत रहने के उपरांत वह ३७ वर्ष की आयु में धर्मभूमि भारत का दर्शन करने और भारतमाता का पयपान करने की आकुलता लेकर अकेला ही चल पड़ा। उसने समुद्र में यात्रा की। बीस दिन में सुमात्रा पहुँचा। फिर मलाया होकर बंगाल की खाड़ी में अवस्थित तामलुक बंदरगाह पर सन् ६७३ में उतरा। इस बीच उसे नावें बदलने और यात्रा की सुविधाएँ पाने के लिए कई-कई जगह ठहरना पड़ा और अगले सहयोगियों की प्रतीक्षा करनी पड़ी।

नालंदा विश्व विद्यालय में उसने अध्ययन किया, पाली और संस्कृत सीखी। तीर्थयात्रा की, साधनारत रहा और अंततः ४०० संस्कृत ग्रंथ लेकर वह चीन लौटा। जहाँ-तहाँ रुकते-ठहरते अंततः वह ६९५ में चीन पहुँचा। “परम सुख मठ” और ‘उज्ज्वल-मठ’ में रहकर उसने अपने शिष्यों सहित अनुवाद कार्य किया। ईत्सिंग के अनुवादित संपादित ५६ ग्रंथ मिले हैं, जो २३० खंडों में विभक्त हैं। ‘त्रिपिटिक सूची’ उसका सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। ७९ वर्ष की आयु में सन् ७१३ में उसका देहावसान हुआ।

उन्नीसवीं सदी के बौद्ध प्रचारकों में ‘पवित्र लोक संप्रदाय’ के संस्थापक शेन आन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त ‘दा-चि-एह-चूं’ ‘तजे फुस्सु’-‘लुएन ही’-‘चाओ शेग लिआंग’-‘हू बेन वाई’ ‘चेंग हुएन च्वान’ ‘यांग चेन हुई’ ‘त्साओ चिन’ ‘चुन-च्वान पुस्ता’ ‘लिउ कार्ई सेंग’ आदि के नाम भी कम उल्लेख योग्य नहीं हैं। इन लोगों ने बिखरे हुए बौद्ध साहित्य का संकलन एवं प्रकाशन करने के अतिरिक्त उस विचारधारा को जन साधारण तक पहुँचाने के लिए अनवरत प्रयास किया।

चीनी भाषा में महान बौद्ध ‘त्रिपिटिकों’ का संग्रह ४६० बड़े-बड़े बंडलों में बँधने योग्य छपा है। इसके ३३२० खण्ड हैं।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १७०

युआन लाई, युआन हुएन आदि अत्यंत प्रतिभाशाली विद्वान हुए हैं। उनके क्रिया-कलाप ऐसे हैं, जो भिक्षु चरितावली में सदा मूर्खन्य गिने जाते रहेंगे। वू-पी के प्रयत्न से एक हजार बौद्ध भिक्षुओं को दार्शनिक एवं धार्मिक प्रशिक्षण के लिए सुनियोजित प्रक्रिया का संचालन किया गया। 'त्सई युंग चि आओ' और 'तिन वाई तिन' ने प्राचीन धर्मग्रंथों पर नए दृष्टिकोण से निबंध लिखे। साधना के प्रति उपेक्षा को दूर करने के लिए 'हु हियेन' ने निरंतर दौरे किए और जहाँ-तहाँ अनेक साधना केंद्र स्थापित किए, जापान, स्याम, लंका तथा भारत तक की उसने दौड़ लगाई। शंघाई का 'अवंतसक' विश्व विद्यालय उसी का स्थापित किया हुआ था। उसका दूसरा नाम 'युए न हि' भी था। ६० वर्ष की आयु में सन् ९१७ में उसने शरीर त्यागा।

मुसलमानों के आक्रमण ने चीन में जमे हुए बौद्ध धर्म की जड़ें हिला दीं। तलवार ही उनके प्रचार-प्रसार का प्रधान माध्यम था। आक्रांताओं ने विहारों, विद्यालयों, मंदिर, पुस्तकालयों को जलाकर राख कर दिया और धर्मप्रचारकों को गाजर-मूली की तरह काटकर रख दिया। ऐसी बर्बरता के सामने अहिंसावादी बौद्ध सभ्यता न टिक सकी और उसके पैर लड़खड़ाने लगे।

मंगोलो को हटाकर मिंग वंशी सत्ता हथियाने में सफल हुए। उन्होंने १३६८ से १६४४ तक राज्य किया। इस वंश में 'थाई शु' राजा ने बौद्ध धर्म के विस्तार में विशेष सहायता दी। इसके बाद मंचू लोग शक्ति में आए। उसके 'शन चिह' और 'चिनलंग' शासकों ने भी समुचित सहयोग दिया। इसी वंश की राजमाता का शासन सन् १९०८ में चल रहा था। गद्दी पर उनका तीन वर्षीय बालक बैठा था। इन्ही दिनों चीन में प्रजातंत्री क्रांति हुई और राजतंत्र समाप्त हो गया। आंदोलनकारियों ने ५ अप्रैल १९११ में बिगुल बजाया और दस महीने की स्वल्प अवधि में उस आंदोलन ने सफलता प्राप्त कर ली।

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १७१

१० अक्टूबर १९११ के दिन क्रांतिकारियों ने हांकाऊ और बूचांग में चिंगवंश के शासन को उखाड़ फेंका और उसके स्थान पर प्रजातंत्र की स्थापना हुई। डॉ० सनयातसेन प्रथम राष्ट्रपति चुने गए। उन्होंने बौद्ध धर्म के बिखराव और टकराव को रोकने के लिए भिक्षु 'चिन-आन' के नेतृत्व में 'अखिल चीनी बौद्ध संघ' की स्थापना की। उसकी नियमावली बनी और उसे सरकारी मान्यता मिली। गृह-विभाग ने बौद्ध-मठों के संरक्षण के लिए एक विशेष राजाज्ञा प्रसारित की। बौद्धों ने स्वयं भी अपने को लोकोपयोगी बनाने के लिए कई महत्वपूर्ण कदम उठाये। कई प्रसार-संगठन बनाए गए। प्रेस और प्रकाशन का प्रबंध हुआ। प्रचार, प्रवचनों, पूजा एवं धर्म विवेचना से आगे बढ़कर व्यक्ति और समाज की सामान्य समस्याओं का समाधान कर सकने योग्य बनने की नीति निर्धारित की गई।

प्रजातंत्र की स्थापना के उपरांत बौद्ध धर्म को लोकोपयोगी बनने की दिशा में प्रकांड विद्वान 'ताई हुरे' के नेतृत्व में विशेष प्रयास किए गए। ताई हुरे को उनके चरित्र और प्रयास के कारण उस देश में बौद्ध-पोप कहा जाने लगा था। अपने सहयोगी ओ-उयांग-चिंग-बू-पा-चिन चांग-ताई-पेन-वांग-यि-तिंग आदि के सहयोग से एक से एक ऐसी महत्वपूर्ण कार्य किए जिनसे नई रोशनी वालों को भी धर्म की उपयोगिता स्वीकार करनी पड़ी। सन् १९२५ में महा उपवन मठ में बुद्ध-परिषद द्वारा एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें भारत, श्याम, जापान, जर्मनी, अमेरिका, फिनलैंड, लंका, वर्मा आदि अनेक देशों के बौद्ध प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे।

बुद्ध परिषद ने भी कई महत्वपूर्ण कार्य किये जैसे—(१) सन् १९२२ में चीनी बौद्धों का एक विशाल सम्मेलन आयोजन और उसमें देशव्यापी धर्म प्रचार की सुनियोजित कार्यपद्धति का निर्धारण। (२) विश्व धर्म प्रचार के लिए एक विद्वान मंडली की योजना

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १७२

(३) चीनी-तिब्बती कालेज की स्थापना (४) बौद्ध सद्भाव सम्मेलन की स्थापना (५) सुधार संघर्ष के लिए यंग मेन्स बुद्धिस्ट एसोसियेशन का युवकों में व्यापक क्रिया-कलाप संचालन (६) बौद्ध साहित्य के प्रामाणिक प्रकाशन करने के लिए आभ्यंतर विद्या-परिषद की स्थापना (७) छात्रोपयोगी बौद्ध धर्म की पाठ्य पुस्तकों का निर्माण और प्रसार (८) चीन में बौद्ध इतिहास की खोज और प्रमाणों का संग्रहालय (९) विशाल अध्ययन केंद्र एवं बौद्ध विश्वविद्यालय का संचालन आदि।

चीन की बुद्ध परिषद भारत के साथ अपने संपर्क घने बनाने का प्रयत्न कर रही थी, उधर भारत की चीनी-भारतीय सांस्कृतिक परिषद इसी प्रयास में थी। दोनों देशों में घनिष्ठता स्थापन करने के प्रयत्न चल रहे थे। यह उचित भी था क्योंकि हिंदू और बौद्ध संस्कृतियाँ धार्मिक दृष्टि से सहोदर भाई हैं। यह एकता उपयुक्त वातावरण में सहज ही घनीभूत हो सकती है।

चीन के छात्र भारत में और भारत के चीन में पढ़ें। यह सिलसिला १९४५ में चला। रवींद्र की 'विश्वभारती' के अतिरिक्त कलकत्ता, प्रयाग, बनारस और दिल्ली विश्वविद्यालयों ने चीनी भाषा तथा संस्कृति का अध्ययन कराने वाले विशेष विभाग खोले। कितने ही मूर्द्धन्य व्यक्तियों की यात्राएँ एक देश को दूसरे के समीप लाने के लिए हुई। चीनियों ने सारनाथ का चीनी मंदिर, बोधि गया का महाबोधि मठ, जेतवन का प्रकाश मठ, नालंदा का प्रज्ञा मठ, कासिया का महासुख मठ इसी शताब्दी में बनाए। इन मठों की व्यवस्था चलाने के लिए 'भारतीय-चीनी बौद्ध परिषद' की स्थापना हुई। पं० नेहरू, सर राधाकृष्णन, कर्वींद्र रवींद्रनाथ चीन गए और चीन के राष्ट्रपति च्यांग काई शेक तथा दूसरे मूर्द्धन्य व्यक्ति भारत आए। घनिष्ठता बढ़ने की संभावनाएँ दिन-दिन उज्ज्वल होती जा रही थीं, पर कम्यूनिस्टों ने उस सारे स्वप्न को ही उलटकर रख दिया।

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १७३

सन् १९४९ में चीन में कम्यूनिस्टों का कब्जा हुआ। उनकी कपट नीति ने सारी धारा ही उलट दी। 'हिंदी चीनी भाई-भाई' नारे का गुंजन हलका भी न होने पाया था, पंचशील, पालन के करार की स्याही सूखने भी न पाई थी कि उन्होंने तिब्बत के स्वतंत्र राष्ट्र को पैरों तले रौंद डाला और अक्सार्चिन नेफा आदि पर नृशस आक्रमण किया। पाकिस्तान के कंधे पर बंदूक रखकर भारत के लिए पग-पग पर कठिनाई उत्पन्न करने की नीति अपनाई।

चीन में बौद्ध धर्म का उन्मूलन उन्होंने संस्कृति के नाम पर कर दिया। अब वहाँ के लौह आवरण को भेद कर कोई कुछ नहीं कर सकता कि वह महान संस्कृति जो दोनों देशों को हजारों वर्षों तक सहोदर भाईयों की तरह एकता के सूत्र में बाँधे रही, किसी प्रकार जीवित रही होगी या नहीं?



समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १७४

रूस तक भारतीय संस्कृति का विकास-विस्तार

मध्य एशिया होता हुआ बौद्ध धर्म ईसा की प्रथम शताब्दी में ही रूस पहुँच गया था। उसका प्रथम प्रवेश खोरेज्मा में हुआ। वहाँ से वह कैस्पियन सागर, अरब सागर तथा प्रशांत महासागर के सुविस्तृत भूखंड में फैला। सातवीं शताब्दी में समरकंद में एक विशाल बौद्ध विहार का पुनरुद्धार हुआ। कूचा और खोतान उन दिनों बौद्ध धर्म के प्रधान केंद्र थे। ऐसी दुर्लभ पांडुलिपियाँ संग्रहीत थीं जो भारत में भी नहीं मिल पाती थीं।

रूसी पुरातत्व विभाग की ढूँढ़-खोज में ऐसे अनेक स्मारकों, मंदिरों, विद्यालयों, भित्तिचित्रों, शिलालेखों, ग्रंथों, मूर्तियों तथा भग्नावशेषों का संग्रह किया गया है, जो उस देश में प्राचीन काल की बौद्ध संस्कृति के प्रसार का प्रमाण देते हैं, तर्मीज नगर के पास पत्थर की बुद्ध प्रतिमाएँ मिली हैं और उसी स्थान पर एक बौद्ध-मंदिर के काँसे और मिट्टी सहित अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं।

किरगीजियो क्षेत्र में चू नदी की उपत्यका में भी बहुत से बौद्ध अवशेष मिले हैं। दझूल नगर के पास तो एक पूरा विहार ही मिला है, जिनमें भिक्षुओं के निवासगृह, चैत्य, मंदिर आदि की व्यवस्था मौजूद थी। मूर्तियाँ, चित्र, भवन, मंदिर की वास्तु शैली देखते हुए एक निष्कर्ष निकलता है कि वहाँ भारतीय बौद्ध प्रचारक ही नहीं, कुशल कारीगर भी बड़ी संख्या में पहुँचे थे।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १७५

तुर्कमानिया के 'बैराम अबी' स्थान की खुदाई में जो प्राचीन बौद्ध मंदिर मिला है, उसमें एक ऐसा पात्र भी है जिसमें छोटी-छोटी मूर्तियाँ तथा पाँचवी सदी के ईरानी सिक्के भी रखे हैं। इसी के साथ भोजपत्र पर लिखे हुए पाँचवी शताब्दी के बौद्ध धर्म के ग्रंथ भी मिले हैं। सेमिरेचे (अकवेशी), कास्नोरेचेन्स्क, कुवा (फरगाना) आरजिना लेपे (ताजिकिस्तान) में उपलब्ध अवशेषों से स्पष्ट है कि उन क्षेत्रों में बौद्ध धर्म ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में मौजूद था। मंगोलिया में उसकी जड़ें जमीं हुई थीं। कई मांगोल सरदार बौद्ध धर्म में दीक्षित हो चुके थे। 'मांगेल-ओइरात' बौद्ध थे। सन् १६२० में होशुत राजकुमार 'वैवागस दातार' बौद्ध धर्म के पीत-संप्रदाय का अनुयायी था। यह मंगोल वोल्गा के किनारे-किनारे आगे बढ़े और उन्होंने रूस के काफी बड़े क्षेत्र में बौद्ध धर्म फैलाया। उन्ही दिनों साइबेरिया के बेकाल प्रदेशों में बौद्ध धर्म पनपा। १५० तिब्बती बौद्ध भिक्षु वहाँ पहुँचे और उन्होंने खानाबदोश बुर्यात जनजाति को दीक्षित किया। 'उलान बतौर' के गंवन विहार में भारतीय धर्मप्रचारक भी पहुँचे थे। उनमें से एक और भिक्षुपात्र तो अभी तक सुरक्षित रखा हुआ है। बुर्यातिया का प्रथम बौद्ध विहार 'सेलिंगन' क्षेत्र में 'त्सोड गोल दजान' नामक स्थान में विनिर्मित हुआ था।

रूस के सेमीरेक (सप्तनद) क्षेत्र में छठवीं से लेकर बारहवीं सदी के मध्यवर्ती ऐसे अनेक अवशेष मिले हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वहाँ प्राचीन काल में बौद्ध धर्म का आधिपत्य था। पुरातत्व विभाग ने जो अवशेष प्राप्त किए हैं उनमें स्पष्ट है कि 'चू' उपत्यका के निकट 'आस्सिक अता' में बौद्ध धर्म माना जाता था और बारहवीं सदी में वहाँ विशालकाय बौद्ध विहार बने थे। सारिंग नदी की उपत्यका में छठी सदी के बने भित्तिचित्र पाए गए हैं, जिनमें वहाँ उन दिनों बौद्ध धर्म का प्रचलन सिद्ध होता है। बलाशागून में बुद्ध प्रतिमाएँ मिली हैं। तलस में भी छठी सदी

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १७६

के ऐसे ही अवशेष मिले हैं। पुरातत्व विज्ञानी बर्नस्ताम ने उसी क्षेत्र में अनेक धातु प्रतिमाएँ तथा संग्राह्य अवशेष ऐसे प्राप्त किए हैं, जिन्हें देखने से उस क्षेत्र में प्रतिष्ठित बौद्ध आस्था का भलीभाँति परिचय मिलता है।

रूसी भाषा में संस्कृत के शब्दों की भरमार है। ईसा की दसवीं शताब्दी तक रूसी लोग देवताओं की पूजा करते थे जो भारत में पूजित होते थे। लिथुवानिया और लाताविया की भाषाएँ योरोप की भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत के अधिक समीप हैं। 'वाल्हस एण्ड आर्यन्स' ग्रंथ में इस क्षेत्र के निवासियों को प्राचीन काल में आर्यवंश का ही सिद्ध किया है।

रूस का उजेविकिस्तान प्रदेश यों इन दिनों मुसलमानी प्रभाव में है, पर प्राचीनकाल में वह भारतीय संस्कृति का केंद्र रहा है। मध्ययुग की इमारतों के अवशेष जहाँ भी उपलब्ध हैं, उन पर भारतीय स्थापत्य कला और संस्कृति की गहरी छाप है। आमू नदी के किनारे बसे तर्मेज नगर की खुदाई में बौद्ध प्रतिमाएँ और चैत्यों के अवशेष मिले हैं। इस प्रदेश का प्रमुख नगर 'बुखारा' इतिहासकारों के अनुसार 'विहार' शब्द का ही तुर्की उच्चारण है। ताशकंद के स्त्री-पुरुषों की पोशाक भारतीय पहनावे से मिलती-जुलती है।

तुर्कमानिया प्रदेश के अनेक स्थानों पर भारतीय संस्कृति के अवशेष बिखरे पड़े हैं। अश्काबाद से ४०० किलोमीटर आगे विशालकाय 'मेर्व' की खुदाई में ऐसे अनेकों अवशेष मिले हैं। यहाँ सात मीटर ऊँची एक बुद्ध प्रतिमा मिली है। ब्राह्मी लिपि में ताड़पत्र पर लिखा एक बौद्ध ग्रंथ भी उसी काल का मिला है। हिंदी के प्रसिद्ध कवि और तुर्की, फारसी, अरबी तथा संस्कृत के विद्वान रहीम, जिनका पूरा नाम 'अब्दुरहीम खानखाना' था, वे तुर्कमानिया के ही निवासी थे। भारतीयता के प्रति उनका अनुराग अपने जन्मकाल से ही वहाँ के वातावरण द्वारा उपलब्ध था।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १७७

इस्लाम के मध्यकालीन दबाव और वर्तमान नास्तिकवादी प्रवाह के बावजूद यूर्यातिया प्रांत भी अपनी बौद्ध निष्ठा को बहुत हद तक यथावत बनाए हुए है। बेकाल झील के दक्षिण पूर्व में बरफीली चोटियों से ढका हुआ विपुल प्राकृतिक संपदाओं वाला यह प्रदेश है। इसका क्षेत्रफल ३१५००० वर्ग किलोमीटर है क्षेत्रफल की दृष्टि से इसे जापान के बराबर ही कह सकते हैं।

रूस के समाचार पत्रों में इस खोज की विस्तृत चर्चा छपी थी कि काकेशस क्षेत्र में कालासागर के तट पर माइस सेनेटोरियम के निकट खुदाई में जो मूर्तियाँ मिली हैं, वे इस बात को प्रमाणित करती हैं कि किसी समय उस क्षेत्र में भारतीय सभ्यता फैली हुई थी। इसी क्षेत्र में 'आदवरोइस' नामक कबीला निवास करता है, उसकी नसल का विश्लेषण करने पर प्रतीत हुआ है कि वे भारतीय मूल के लोग हैं। पीढ़ियों से रूस में बसे होने के कारण वे अब रूसी ही हैं। फिर भी उनका सांस्कृतिक रुझान भारतीयों जैसा है। उनमें प्रचलित लोक कथाओं में से ३० कथाएँ भारतीय पुराणों की हैं। आभूषण वे भारतीयों जैसे पहनते हैं। वे रूस में रहते हुए भी अपने आप को भारतीय मूल का मानते हैं।

मास्को, लेनिनग्राड, रोस्तोव, ताशकंद, कीव के विश्वविद्यालयों में औद्योगिक एवं वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करते हुए भारतीय छात्र बड़ी संख्या में रूस में रहते हैं। अमीर देशों की तरह वहाँ किसी के लिए भी विलासिता के अवसर नहीं हैं। वहाँ प्रत्येक देशी-विदेशी नागरिक से कठोर श्रम की अपेक्षा की जाती है।

रूस में १४ भारतीय भाषाओं में रेडियो-प्रसारण होता है और यहाँ की प्रायः प्रत्येक भाषा में साम्यवादी विचारधारा की पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था है। इस कार्य में सैकड़ों भारतीय लगे हुए हैं और रूसवासियों को प्रशिक्षित कर रहे हैं।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १७८

रूस के अजरवइजान नगर में एक सूर्य मंदिर है जिसमें संस्कृत शिलालेख है। वह इस बात का साक्षी है कि कभी उस देश में हिंदू धर्म का विस्तार रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम भाग में हरियाणा, पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत के व्यापारी समुद्र मार्ग से रूस गए और वहाँ जाकर कितने ही बस भी गए। अभी भी वहाँ बाकू में उनका एक कारवां-सराय है और एक मंदिर भी है। रूस में प्रवासी भारतीयों का कोई संगठित समुदाय नहीं है। इन दिनों रूस में भारतीयों की संख्या शैक्षणिक संस्थाओं में अध्ययन कर रहे छात्रों के रूप में ही अधिक है। हिंदी, बंगाली, तमिल, तेलुगू, गुजराती, मराठी, उड़िया आदि भाषाओं के विद्वान भारत से वहाँ बुलाए गए हैं और वे रूस-वासियों को प्रशिक्षित कर रहे हैं।

रूस के विद्वानों में से ए० जी० रोस्तोव, एन० ए० दोब्रोव्योव, आई० सी० मितायेव, वी० वी० स्तासोवों, एस० शशकोव, ऐसे नाम हैं जिन्होंने रूस निवासियों को भारतीय गौरव-गरिमा की अधिकाधिक जानकारी कराने में भरसक प्रयत्न किए हैं। लियो टालस्टाय से गांधीजी ने जो प्रेरणा ग्रहण की उससे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में कितनी मदद मिली इसे हर कोई जानता है।

सन् १७८५ में एक प्रतिभावान संगीतज्ञ 'लेवेदिराव' भारत आए और वे बारह वर्ष तक इस देश की तीर्थयात्रा करते हुए भारतीय संगीत का शिक्षण प्राप्त करते रहे। इसके बाद एक रूसी दार्शनिक 'रैफाइल देनिवेगोव' भी भारत आए और वे १७ वर्षों तक यहाँ तीर्थयात्रा करते और धर्म शिक्षा प्राप्त करते रहे। सन् १७७४ में फिलिप येफ्रेमोव भारत की सुविस्तृत तीर्थयात्रा करने आए और उन्होंने कई वर्ष बाद लौटकर भारत की जानकारी के संबंध में एक बड़ी पुस्तक प्रकाशित की जिसे उस देश में बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा गया। भारतीय तत्त्वदर्शन में विशेष रुचि रखने वाले विद्वान जी० एस० लेवेदयेव इस देश में कितने

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १७९

ही वर्ष रहे और उन्होंने भारतीय ब्राह्मणों की जीवन प्रणाली पर निष्पक्ष विचार और उनके पवित्र रीति-रिवाज तथा लोक व्यवहार नामक पुस्तक लिखी।

इस बात के कितने ही प्रमाण मिले हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दी में भारतवासी रूस को जाते थे और रूसी लोग भारत आते थे। इस आवागमन का प्रयोजन संस्कृतियों का आदान-प्रदान, अध्ययन तथा प्रशिक्षण, चिकित्सा एवं व्यवसाय रहता था।

अनेक योरोपीय यात्रियों ने अकबर के दरबार में रूसियों के होने का जिक्र किया है। इटली के घुमक्कड़, 'डिओवानी वातेरो' ने भारतीय व्यापारियों को यारोस्लाव, मास्को और त्येक में अपना व्यवसाय चलाते देखा था। अस्त्राखान कसबे में भारतीयों की बस्ती और सराय थी जो २०० वर्षों तक फलती-फूलती रही। इन प्रवासियों में से अधिकांश पंजाब और राजस्थान के निवासी थे।

रूसी भाषा का विकास संस्कृत के आधार पर हुआ है। इस तथ्य को रूस की महिला इतिहासवेत्ता बोलकोवा ने स्वीकार किया है। वहाँ के भाषाविज्ञानी वी० मकारैको का कथन है कि रूसी भाषा अँगरेजी की अपेक्षा हिंदी, संस्कृत और बंगला के अधिक निकट है।

(१) पिकिलिंग्स की "लिथुआनियन भाषाओं का संस्कृत से निकट संबंध" (२) ए० एफ० मिकुस्त की "स्लाव और संस्कृत भाषा की आत्मीयता" (३) एम० पी० मिकुत्सकी की "संस्कृत धातुओं और शब्दों की स्लाविक भाषा से तुलना" (४) रूसी विज्ञान अकादमी द्वारा प्रकाशित "संस्कृत और रूसी भाषा की समानता"। इन ग्रंथों में विस्तारपूर्वक यह सिद्ध किया गया है कि रूसी भाषा का विकास संस्कृत भाषा के प्रकाश में ही हुआ है।

रूसी भाषा में भारत के अनेक प्राचीन ग्रंथों का अनुवाद हुआ है। गीता, उपनिषद्, पंचतंत्र, हितोपदेश विशेष रूप से लोकप्रिय हुए थे। वारान्निकोव द्वारा अनुदित 'रामचरितमानस' की तो वहाँ

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १८०

लाखों प्रतियाँ हाथों हाथ बिक गई। रवींद्रनाथ टैगोर की कृतियाँ तो रूस की प्रायः सभी भाषाओं में अनूदित, प्रकाशित हुई हैं। हिंदी की शिक्षा का उस देश के विश्वविद्यालयों में समुचित प्रबंध है।

रूसी भाषा में बौद्ध साहित्य का अनुवाद और प्रकाशन उत्साह-पूर्वक हुआ है। इस कार्य को वहाँ का 'ओल्डनवर्ग विवलिओथकी बुद्धिका' संस्थान संपन्न कर रहा है। अनुवादकों में मसिली मसिलियेफ, इमान मिनायेफ, फिओदोरश्चेर वास्त आदि विद्वानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

बोएथलिंग द्वारा संपादित "संस्कृत गोर्तेबुख-पीटर्सवर्ग डिक्शनरी" नामक संस्कृत कोश सात बड़ी जिल्दों में छपा है। देवनागरी लिपि में छपा यह रूस का सर्वप्रथम ग्रंथ है। उसके संपादन में २० वर्ष लगे हैं। अब तो महाभारत, गीता, रामायण, उपनिषद् आदि अनेक प्राचीन ग्रंथों का अनुवाद रूसी भाषा में हो चुका है।

रूसी इतिहासकार जी० मिल्लेर तथा गवेषणा विशेषज्ञ वास्सिलियेव ने कठिन परिश्रम करके उस देश में बिखरे हुए बौद्ध साहित्य तथा अवशेषों को एक क्रमबद्ध शृंखला में पिरोया है। संग्रहीत सामग्री से उस देश में किसी समय के बौद्ध धर्म विस्तार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इमानमीनायेव, सेगेई ओल्डेनवर्ग, फ्योदोर इप्योलितो, श्चरकोई, यूरी रोयरिक, जार्जीसग्यान्त्सेव, बोरिस सेमिचेन, वोरिस पंक्रातोय, कुजूनेत्सोव, एदुअई तेम्कीव, सांझे, दिलिकोव, ओवत्यात्रिना, वोल्कोवा, ग्रिगोरी, वोनगरि, लेविन, येलेना सेमेका, अलिक्सेई कोचेतोव प्रभृति विद्वानों ने इन दिनों अथक परिश्रम करके रूसी जनता को बौद्ध धर्म से परिचित कराने वाले अनेक ग्रंथ एवं शोध-प्रबंध प्रस्तुत किए हैं। उससे एक अंधकार पर से परदा उठा है और रूसी जनता ने यह जाना है कि बौद्ध धर्म न तो दकियानुसी है न प्रतिगामी।

लेनिन ग्राड की प्राच्य विद्या एकादमी के पांडुलिपि विभाग ने उस देश में बिखरे हुए बौद्ध साहित्य की लगभग ३० हजार

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १८१

पांडुलिपियाँ संग्रहीत की हैं। “नाडका प्रकाशन गृह” ने रूसी भाषा में अभी-अभी धम्मपद, बौद्ध धर्म, जातक मरला, तिब्बती धर्म साहित्य, अशोकावदान माला, कुणाल-कथा जैसे बौद्ध धर्म पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथ छापे हैं। इससे स्पष्ट है कि रूसी जनता इस नास्तिकवादी जनून के रहते हुए भी बौद्ध धर्म से कम प्रभावित नहीं हैं।

रूस में भारतीय संस्कृति के संबंध में कम दिलचस्पी नहीं है। लेनिनग्राड विश्वविद्यालय में प्राच्य विद्या के अध्ययन की अच्छी व्यवस्था है। संस्कृत, पाली और प्राकृतिक भाषाओं के उद्भट विद्वान आई० पी० मिनियेव ने इसका श्रीगणेश किया था। एस० ओल्डनबर्ग और शेर्वात्सकी ने भारतीय तत्त्वज्ञान पर शोध एवं तद्विषयक अध्ययन पर महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। शेर्वात्सकी संस्कृत में धारा प्रवाह भाषण कर सकते थे। उन्होंने लंबी यात्राएँ करके उस देश में बिखरा पड़ा बौद्ध साहित्य एकत्रित किया था। एल बजेई वारानिकोव के संपादकत्व में “हिंदी-रूसी कोष” विनिर्मित हुआ है। उन्हीं ने रूसी भाषा में रामचरितमानस का पद्यानुवाद भी किया। उनकी समाधि पर तुलसीदास का यह दोहा अंकित है—

भलो भलाई पै लहहिं, लहै निचाई नीच।

सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच॥

रूस भारत से बहुत दूर नहीं है। प्राचीन काल में यहाँ के प्रचारक अपने अटूट उत्साह का सहारा लेकर वहाँ भी पहुँचते थे और भारतीय संस्कृति के दिव्य लाभों से उस क्षेत्र को भी प्रभावित-प्रकाशित करते थे। मुंबई से रूस की राजधानी मास्को ५६०० मील है। नौ सौ मील प्रति घंटे की चाल से चलने वाले मध्यवर्ती वायुयान से साढ़े छह घंटा में इस दूरी को पार कर लेते हैं। श्री मिखाईल गोर्बाच्योव के राष्ट्रपति बनने के बाद अब साम्यवादी अधिनायकवाद यहाँ समाप्त हो रहा है।



समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १८२

सूर्यवंशी जापान की बौद्ध-निष्ठा

जापान शब्द चीनी भाषा के 'जिम्पोज' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है—'सूर्य का देश'। जापान चिर अतीतकाल से सूर्य उपासक रहा है। उस देश के निवासी अपने को सूर्य की संतान कहते हैं। जापान सम्राट मेईजी की वे कविताएँ सुप्रसिद्ध हैं, जिसमें उन्होंने जापान की आत्मा का सूर्य की ज्योति के रूप में चित्रण किया है।

जापान की धार्मिक परंपरा यह है कि प्रातःकाल उठकर पूर्व की दिशा में मुँह करके खड़े हो-सूर्य के दर्शन करें-नमन करें और इस दर्शन सौभाग्य के उपलक्ष्य में ताली बजाएँ। वे सूर्य को अपना उपास्य और आदर्श मानते हैं। हर जापानी उस प्रेरक गीत को गुनगुनाता रहता है जिसके बोल हैं—“हम सूर्य की संतान हैं, हम देश के गौरव हैं”

संसार भर में सबसे पुरानी लकड़ी की इमारत जापान के नारा नगर का 'होर्युजी' मंदिर है। यह सातवीं सदी के आरंभ का बना है। समीप ही बनी स्रक सावा झील के किनारे का 'फुकूजी' का पाँच मंजिला मंदिर है, इसकी ऊँचाई १६५ फुट है। निकटवर्ती क्षेत्र एक प्रकार का विस्तृत उद्यान है, जहाँ तरह-तरह के हिरन हजारों की संख्या में निर्भय विचरण करते हैं। झील में लोग मछलियाँ खरीदकर उन्हें प्रवाहित करते हुए दया धर्म का पालन करते हैं।

'को फुइजी' प्राचीन काल का समृद्ध बौद्ध विहार है जहाँ होसो संप्रदाय के बौद्ध धर्माचार्य रहते थे। जापानी सम्राटों ने उस स्थान को अपनी श्रद्धा का प्रमुख केंद्र माना। उन्होंने इस क्षेत्र में कितने ही धर्मस्थान बनाए जो कभी १७५ तक पहुँच गए थे। उनमें

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १८३

से कुछ तो टूट-फूट गए किंतु 'दायनजी' 'गंगोजी' 'हार्युजी', 'तोदाइज' 'याकुशी' ये पाँच मंदिर अभी भी समुन्नत मस्तक किए खड़े हैं। 'को फुइजी' मंदिर सन् ७६८ में बना था। इसमें पत्थर की बनी सुंदर १८०० लालटेन दर्शकों का विशेष आकर्षण हैं। अब इन लालटेनों की संख्या और भी बढ़ाकर तीन हजार कर दी है। पर्वों के अवसर इन सबमें दीपदान की दिवाली जैसी मनोरम शोभा देखते ही बनती है।

तोदाइजी बुद्ध मंदिर में आठवीं सदी की बनी विशालकाय बुद्ध प्रतिमा है। इसकी ऊँचाई ५३ फुट ६ इंच है। चेहरे की लंबाई १६ फुट, चौड़ाई ९ फुट, आँखें ४ फुट, नाक १.५ फुट, हथेलियाँ ५.५ फुट, उँगलियाँ ४ फुट, कान ८ फुट के हैं। घुँघराले वालों के गुच्छे ९६६ हैं। इस प्रतिमा का भार ५०० मीट्रिक टन है। संसार भर के मूर्ति इतिहास में यह मूर्ति अपने ढंग की अनोखी है।

जापान की नारा-नगरी में मथुरा-वृन्दावन जैसी राग-रंग की धूम-धाम रहती है। वहाँ के मंदिरों में आकर्षक नृत्य के साथ अनेकों धर्मोत्सव होते रहते हैं। जापानी स्वभावतः प्रकृति सौंदर्य के पूजक हैं। उनके निजी घरों में भी छोटे-बड़े उद्यान बने होते हैं। तिवको का तोशूगू मंदिर पहाड़ काटकर इस प्रकार बनाया गया है, जिससे न केवल धर्म-भावना की वरन प्रकृति पूजा की आकांक्षा भी पूरी हो सके।

जापान के ओसाका नगर का बौद्ध मंदिर देखने ही योग्य है। वह छठी शताब्दी का बना हुआ है। स्वच्छता और शांत वातावरण देखकर यह विचार उठता है कि क्यों न भारतीय मंदिरों का वातावरण भी ऐसा ही सौम्य बनाया जाए।

जापानी पुरातत्त्ववेत्ता तकाकसू ने जापानी संस्कृति का इतिहास लिखते हुए स्वीकार किया है कि उसका विकास भारतीय संस्कृति की छाया में हुआ है। जापान में बुद्धिसेन भारद्वाज धर्म प्रचारक ने सारा जीवन उसी देश में धर्म-शिक्षा देते हुए व्यतीत किया। पहले

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १८४

वे अपने कुछ साथियों सहित ओसाका पहुँचे थे, पीछे उन्होंने सारे जापान में यात्राएँ कीं और जापानी जनता को हिंदू धर्मानुयायी बनाया। इस महान धर्म प्रचारक का स्मारक अभी भी नारा नगर में बना हुआ है। जापान में सूर्यदेव की पूजा होती है। दिवाली भारत की तरह ही मनाई जाती है। ऐतिहासिक अवशेषों के अनुसार सूर्यवंशी राजाओं ने वहाँ पहुँचकर शासन सूत्र सँभाला था और राज्य व्यवस्था का सूत्रपात किया था। पीछे बौद्ध प्रचारक वहाँ पहुँचे और जापान में बौद्ध धर्म खूब फला-फूला।

जापान के धर्म, दर्शन एवं चिंतन पर भारतीय संस्कृति की गहरी छाप है। प्रथा परंपराओं में अंतर रहते हुए भी भावनात्मक दर्शन वही है, जो भारत की आत्मा कहा जाता है। जापान के देवालयों में भारतीय देवी-देवताओं की सम्मानपूर्वक स्थापना की गई है। यों जापानी भाषा के अनुसार उनके नाम बदल गए हैं, पर उनकी आकृति-प्रकृति के अनुसार वे भारतीय देवताओं के साथ पूरी तरह संगति रखते हैं। सूर्य, ब्रह्म, महेश, गणेश, कार्तिकेय, अग्नि, कुबेर, सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, दुर्गा, राम, कृष्ण, दस अवतारों की प्रतिमाएँ ऐसी लगती हैं मानो वे किसी हिंदी धर्मानुयायी ने ही स्थापित की हों। 'यम' को इसी नाम से मृत्यु का देवता माना जाता है। मंदिरों में हवनकुंड बने हैं, जिनमें सुगंधित द्रव्य, समिधा, अगरबत्ती आदि जलती हैं। मंदिरों में प्रवेश करने से पहले हाथ-मुँह-पैर धोने का नियम है। कुछ दिन पहले वहाँ लंबी चोटी हर कोई रखता था, अब तो वह पहलवानों और विचारकों के सिर पर ही दिखाई देती है।

जापान में पुरानी जाति है--एनु। उसकी मुखाकृति आर्य नसल की है। कहते हैं कि वे भारत में उस देश से गए धर्म प्रचारकों की संतानें हैं। मंदिरों में बुद्ध के वचन देवनागरी लिपि में लिखे होते हैं। जापानी भाषा तो नहीं पर देवनागरी लिपि भली प्रकार जानते हैं। मंदिरों में अंकित बुद्ध प्रवचनों को पढ़ने में उन्हें कठिनाई नहीं

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १८५

होती। जापानी चीनी लिपियाँ बनावट में एक जैसी लगती हैं, पर उनके बीच जमीन-आसमान जैसा अंतर है। जापानी अक्षर हिंदी की तरहही ध्वनिपरक होते हैं। उसकी वर्णमाला का क्रम नागरी जैसा ही ही, जबकि चीनी में किन्हीं आकृतियों के आधार पर भाव व्यंजना का होना माना जाता है। जापान में बोधिसेन भरद्वाज सन् ७३५ में पहुँचे थे और उन्होंने जापानी वर्णमाला को व्यवस्थित किया था। जापान सम्राट शोष्ट ने इस बौद्ध भिक्षु का भारी स्वागत-सम्मान किया था। बोधिसेन भरद्वाज के नाम से जापान का हर शिक्षित व्यक्ति परिचित है।

एक दूसरे धर्मप्रचारक 'धर्म बोधि' की गाथाएँ भी जापान भर में सुविदित हैं। उन्होंने सन् ६४५ में असाध्य रोगग्रसित सम्राट कोटुकू को अपने तपबल से जीवनदान दिया था। सम्राट ने उनके लिए अवलोकितेश्वर मंदिर बनवाया और राजमहल में बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद के लिए एक विशेष विभाग स्थापित किया। उनके योग साधन एवं धर्म प्रचार से सहस्रों जापानी प्रभावित हुए और अनुयायी बने।

आरंभ में भारत से ही बौद्ध प्रचारक संसार के अन्यान्य देशों में धर्म प्रचार के लिए गए थे। पर पीछे यह स्थिति न रही। जहाँ जड़ जम गई वहाँ के निवासी ही भिक्षु बन गए और प्रव्रज्या लेकर समीप के क्षेत्रों में स्वयं ही धर्म प्रचार के लिए निकल पड़े। सन ३७२ में एक चीनी बौद्ध "सुन दो" सीन नान-पू से चलकर कोरिया के 'कोगुर्यू' प्रदेश में पहुँचा और वहाँ उसने अकेले ही धर्म विजय का झंडा गाड़ दिया। उन दिनों कोरिया तीन राज्यों में बँटा हुआ था— (१) कोगुर्यू (२) पकाचि (३) सिल्ला। सुन दो का प्रचार कार्य इतना कुशलतापूर्ण था कि उस क्षेत्र की प्रजा असाधारण रूप से प्रभावित हुई और कोगुर्यू की राजधानी पिंग-यांग में दो, सुसंपन्न बौद्ध विहार बन गए। इनमें ऐसे विद्यालय भी थे, जो नए प्रचारक तैयार करें तथा सामान्य जनता की धर्म

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १८६

जिज्ञासा का समाधान करें। पीछे इस पूरे राज्य का राष्ट्र धर्म ही बौद्ध धर्म हो गया।

जापान में सात देवताओं की पूजा का प्रचलन है। घर-घर में उनकी मूर्तियाँ मिलेंगी। इन देवताओं को महाकाल, कुबेर, सरस्वती, गणेश, यम, हरीति, और लक्ष्मी कहा जा सकता है, यद्यपि उनके जापानी नाम भिन्न हैं। टोकियो में 'मिमेगुरी' का मंदिर है। इसी प्रकार कुबेर मंदिर को 'तमोनाज' और सरस्वती मंदिर का नामकरण 'चोमेइजि' किया गया है। यम-मंदिर में स्थापित 'एकमा' का भी उस देश में पूजन होता है। मार्च और सितंबर में जापानी अपने दिवंगत पूर्वजों (हाकापारि) का श्राद्ध तर्पण करते हैं। उस दिन वहाँ उपवास रखा जाता है।

टोक्यो के पास 'गोहयानु' एकान मंदिर में प्राचीन धर्माचार्यों की प्रतिमाएँ स्थापित हैं। 'दारू मासान' देवता वहाँ मनोकामना पूर्ण करने वाला माना जाता है। वस्तुतः यह देवता और कोई नहीं बौद्ध धर्मप्रचारक 'बोधि धर्म' ही है। इस तथ्य को अब विज्ञ जापानी स्वीकार कर रहे हैं।

जापान में मंत्र लिखने के लिए सिद्धम लिपि प्रचलित है। इसे कश्मीर से वहाँ गए आचार्य प्रज्ञ ने देवनागरी वर्णमाला के आधार पर विनिर्मित किया था।

'कोयासान' में १२० मंदिर हैं। यहाँ सम्राट 'शिराका का' द्वारा प्रज्ज्वलित अखण्ड ज्योति अभी भी जलती है। इस नगर में 'शिंगोन' तंत्र संप्रदाय प्रचलित है, जिसके पूजा तथा उपासना के मंत्र संस्कृत भाषा में बोले जाते हैं। जापानी मंदिरों में अग्निहोत्र होता है। उसे होम न कहकर 'जुमा' कहा जाता है। आहुतियाँ देते समय 'ॐ पद्मोद्रवाय स्वाहा' आदि मंत्रों का उच्चारण किया जाता है।

जापानी सम्राट 'शो तो कु' ने बौद्ध-धर्म को सर्वतोमुखी प्रगति का आधार माना और उसके सहारे अपने देश में अनेक सुधार किए तथा प्रगति के उत्साहवर्द्धक प्रचलन आरंभ किए।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १८७

कोरिया उन दिनों बहुत समुन्नत था। समझा जाता था कि उसकी प्रगति का प्रधान आधार बौद्ध धर्म की शिक्षा और संस्कृति है। जापान ने भी उसका अनुकरण किया और समुन्नत लाभ भी पाया। 'शो तो कु' ने बौद्ध धर्म को राष्ट्र धर्म घोषित किया। अन्य देशों से आने वाले भिक्षुओं के निवास-निर्वाह का उचित प्रबंध किया। ओसाका में एक विशाल बौद्ध विहार बनवाया। इसमें एक अच्छा विद्यालय भी था। इसके बाद चीनी प्रचारक भी वहाँ पहुँचने लगे। राजा ने अपने जीवनकाल में सैकड़ों बौद्ध संस्थान बनवाए, जिनमें 'होर यूजि' के विहार की विशालता और भव्यता सबसे अधिक थी। 'शो तो कु' ने अशोक जैसा धार्मिक जीवन बनाया। उसने प्रवचन करने का स्वयं एक नया आदर्श प्रस्तुत किया।

सम्राट 'शो. यु.' ने सन् ७१० में नारा को जापान की नई राजधानी बनाया उसके मध्य में 'तो दाइ जी' नामक विशाल मंदिर बनवाया, जिसमें स्वर्ण मंडित बुद्ध प्रतिमा स्थापित की गई थी। उसी के आस-पास कई चैत्य तथा विहार बनवाये गए। आठवीं सदी में कोरियाई विद्वान योगी जापान पहुँचा। ७३६ में बुद्धसेन नामक भारतीय विद्वान अपने साथ एक अच्छी संगीत मंडली लेकर वहाँ पहुँचा। इससे बहुत समय पूर्व 'हो दो' नामक एक भारतीय भिक्षु जापान पहुँचा था। चीन से 'गन जिन' नामक एक विद्वान पहुँचा। इन लोगों ने मिल-जुलकर जापान में धर्मभावना की जड़ें जमाईं। जापानी नव दीक्षित भिक्षुओं का भी उत्साह कम नहीं था। इनमें 'गियन ताई तो' और 'शा टो' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने पिछड़े हुए देहातों को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और उन्हीं के बीच अपने को खपा दिया।

जापान में बौद्ध धर्म आठवीं सदी के पूर्वाद्ध में बहुत ही लोकप्रिय हो चुका था। उन दिनों जनता में इसके लिए अपार श्रद्धा थी। संसार की सबसे बड़ी समझे जाने वाली बुद्ध प्रतिमा इन्हीं दिनों सन् ७४९ में बनी। इसमें ६६६ पोंड सोना, १६८२७ पोंड टिन, १९५४ पोंड पास और १८६१९ पोंड ताँबा एवं सीसा लगा है। इसी

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १८८

मंदिर का 'तो-दाईजी' नामक घंटा चालीस टन भारी और तेरह फुट ऊँचा है। नारा राजधानी के इर्द-गिर्द 'चुगुजि' 'याकुशिचि' आदि जो मंदिर विहार बने हैं, उन पर स्पष्टतः भारतीय वास्तुकला का प्रभाव है। उन दिनों बौद्ध धर्म के विस्तार के साथ-साथ जापान की सर्वतोमुखी प्रगति हुई और लोगों ने समझा कि समुन्नत संस्कृति को अपनाकर कोई देश या समाज किस प्रकार हर क्षेत्र में प्रगति के पथ पर अग्रगामी हो सकता है।

आत्मनिग्रह और अनुशासन में ढील पड़ने से उस समय के भिक्षुओं में जो विकृतियाँ आई उससे राजा और प्रजा में असंतोष बढ़ने लगा और खुले आम आलोचनाएँ होने लगीं। इस स्थिति को सुधारने के लिए जापानी संत 'साई चो' और 'कोकेई' ने घोर प्रयत्न किया। इन सुधार प्रयासों को 'धर्मग्यो ताई शी' और 'कोवो ताई शी' ने और अधिक आगे बढ़ाया। उन्होंने मात्र धार्मिक पूजा-पाठ तक बौद्ध शक्ति को सीमित न रहने देकर धर्म को सामाजिक शैक्षणिक एवं राष्ट्रीय प्रगति में नियोजित किया। तत्कालीन शासकों ने भी इसमें सहयोग दिया।

इसके बाद जापान के भिक्षु संप्रदाय और राज परिवार गृह कलह में व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं में ग्रसित होकर फँसते चले गए। इससे देश में दुर्बलता आई। फिर भी वह इतना समर्थ बना रहा कि जिन मंगोल आक्रमणकारियों ने एशिया और योरोप का बहुत बड़ा भाग अपने पैरों तले रौंद डाला था, उन्हें जापान के मोर्चे पर हर बार करारी हार खानी पड़ी। बारहवीं और तेरहवीं सदी में 'होने न', 'शिनरन', 'निचिरेन्' और 'दोर्जन' आदि प्रभावशाली संत विद्वानों ने जनता की धर्मश्रद्धा को लोकमंगल के प्रयोजनों में नियोजित किया और धर्म को समाज की सर्वतोमुखी प्रगति का सहयोगी बनाने का अभिनव एवं सफल प्रयोग किया। जनता में इस सुधार-परिवर्तन का उत्साहवर्द्धक स्वागत हुआ। पीछे उनके न रहने पर अनुयायियों ने उनके नाम पर वैसे ही संप्रदाय खड़े कर

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १८९

दिए जैसे कि आजकल अनेक संतों के नाम पर अलग-अलग पंथ चल रहे हैं। इस अंधानुकरण ने उन सुधारवादी संतों का मूल उद्देश्य ही विकृत कर दिया। इन विकृतियों ने अराजकता का वातावरण उत्पन्न किया और उससे धर्म, समाज एवं राष्ट्र की जड़ें खोखली होती चली गईं। एकता और निष्ठा के अभाव में पंद्रहवीं सदी में जापान में बौद्ध धर्म सड़ा-गला खोखला बनकर रह गया। सर्वत्र विद्वेष और विघटन का बोलबाला दिखाई पड़ने लगा।

इस अस्त-व्यस्तता में ईसाई धर्म ने जापान में घुस पैठ का अवसर पाया और उसने अपनी विशेषता के कारण नहीं, अपितु संव्याप्त क्षोभ, असंतोष से लाभ उठाकर अपनी जड़ें जमाईं। १५ अगस्त १५४९ को सर्वप्रथम एक ईसाई धर्मप्रचारक फ्रांसिस जेवियर, इस देश के कागोशिमा नगर में पहुँचा। उसने राजा और प्रजा को चमत्कृत करने में अद्भुत सफलता पाई। सम्राट 'तायोतोमगे हिदयोशि' ने उसे समर्थन दिया, फलतः योरोप से धर्मप्रचारकों तथा व्यापारियों के जत्थे वहाँ आने और रहने लगे। दूसरी ओर सामंतों में बैठा हुआ देश एक प्रकार से गृह युद्ध की स्थिति में घिरने लगा और भारत की तरह जापान में भी विदेशी शक्तियों के पैर जम गए। सोलहवीं सदी में योरोपियनों के लिए सम्राट हिदोयोशी ने भी द्वार खोले और ईसाई धर्म वहाँ तेजी से बढ़ने लगा। सन् १८६८ में राजा मोइजी ने अपनी प्रसिद्ध 'मैग्ना चार्टा' घोषणा की और पाश्चात्य विचारधारा के प्रवेश का द्वार विशेष रूप से खोला। तब ईसाई संस्कृति को सर्वतोमुखी उन्नति का आधार बनाया जाने लगा और लोगों ने उत्साहपूर्वक उसे अपनाया, पर यह उभार बहुत दिन तक न रहा। बौद्धों ने अपने को सुधारा और जापान में बढ़ती हुई ईसाईयत के खतरे को समझा और तीव्र आंदोलन किया। जनता को वस्तुस्थिति समझाई। फलतः सन् १८७० में जापान ने पुनः बौद्ध धर्म को राष्ट्रधर्म स्वीकार कर लिया।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १९०

अमेरिका और जापान के बीच समुद्र में फैले हवाई द्वीप समूह में जापान से ही बौद्ध धर्म पहुँचा है। जिस प्रकार चीन और कोरिया के भिक्षुओं ने जापान में धर्म-प्रकाश फैलाया वैसे ही जापानी भिक्षु हवाई द्वीप समूह में पहुँचे और वहाँ की जनता को बौद्ध बनाया।

जापान में इन दिनों बौद्ध धर्म के कई संप्रदाय हैं। उनकी आचार संहिता में थोड़ा-थोड़ा अंतर है। प्राचीनकाल जैसी धर्मश्रद्धा अब वहाँ नहीं है, तो भी विहारों और मंदिरों में निवास करने वाले भिक्षु अभी भी अपने ढंग से उपासना एवं धर्म शिक्षा के प्रयत्नों में तल्लीन रहते हैं। अभी भी वहाँ 'नामु अमिता बुत्सु' (नमः अमित बुद्धाय) का प्रेरणाप्रद घोष सुनने में आता है।

जापान में बौद्ध धर्म के प्रसार-विस्तार के साथ-साथ उसकी अपनी चार विशेषताएँ भी रही हैं, जो विचारणीय ही नहीं अनुकरणीय भी हैं—

(१) जापानी बौद्धों ने कट्टरता नहीं दिखाई वरन प्रचलित धर्मों के साथ उसका तालमेल इस सुंदरता के साथ बैठा दिया कि पुरातन पंथियों को नवीन धर्म में प्रवेश करने में विशेष अड़चन न हो। उन्होंने शिंतो, ताओ तथा कनफ्यूशियस धर्मों के देवी-देवताओं को बौद्ध धर्म में सम्मिलित कर लिया। उनकी प्रतिमाएँ भी अपने मंदिरों में रख लीं और उन्हें भगवान बुद्ध के ही विभिन्न समय का अवतार बताया। नये बुद्ध अवतार को सबसे अधिक प्रमुखता इसलिए दी कि वह इसी युग के लिए विशेष रूप से अवतरित हुआ था।

(२) जापानी बौद्धों ने चीनियों की तरह असंख्य बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद नहीं कराया। उन्होंने चुने हुए ग्रंथ ही अपनाए और ग्रंथों की संख्या स्वल्प रखते हुए प्रचार-विस्तार पर अधिक ध्यान दिया, जिससे जनता बिना जंजाल भरी उलझनों में फँसे उस धर्म का स्वरूप सुगमतापूर्वक समझने और निर्देशों को अपनाने में समर्थ हो सकी।

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १११

(३) यों जापान में भी बौद्ध धर्म के कई संप्रदाय हैं—कुश, सानरोन, जोजित्सु, केगौन, होस्सो, रित्सु, तेन्दाई, शिंगोल, युजु, नेनयुत्सु, रयोनिन, जो दो शिन, शिन राज आदि। इनके दर्शन और आचार एकदूसरे से कुछ-कुछ भिन्न हैं, पर उस भिन्नता के कारण न तो उनके बीच मनोमालिन्य है और न द्वेष-दुर्भाव और न असहयोग। भारत में जैसे एक पंथ दूसरे पंथ को फूटी आँखों नहीं सुहाता और विरोध आक्षेप के शास्त्रार्थ के दौर चलते रहते हैं, वैसा दृश्य जापान में बिल्कुल देखने को नहीं मिलता। यह संप्रदाय वस्तुतः पंथ न बनकर संस्थाएँ बन गए हैं। अपने क्षेत्र और वर्ग में काम करते हैं, पर अन्य सद्धर्मी दलों के प्रति घृणा, द्वेष का वातावरण नहीं बनाते। यही कारण है कि पंथों का अस्तित्व टकराव का कारण नहीं बना है और पारस्परिक सहयोग से बौद्ध मिशन के विस्तार में सहायता ही मिली है। विभिन्न अभिरुचि के लोग अपने-अपने प्रिय पंथ को अपनाते हैं, पर साथ ही एकता की आवश्यकता भी सच्चे मन से अनुभव करते हैं।

(४) जापानी बौद्धों की चौथी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने प्रयासों को पूजा-पाठ तक सीमित नहीं किया वरन् धर्म-श्रद्धा को लोकोपयोगी प्रयोजनों में निरत करके उसे व्यक्ति और समाज की उन्नति के विभिन्न क्रिया-कलापों में लगाया। फलतः उस धर्म को भार नहीं एक उपयोगी प्रयास माना जाता रहा और प्रबुद्ध वर्ग का समर्थन तथा राजकीय अनुदान उसे मिलता रहा। जापानी बौद्धों की यह विशेषता निस्संदेह दूरदर्शितापूर्ण और सराहनीय ही कही जा सकती है।

जापान के धर्मों में बौद्ध और ईसाई प्रमुख हैं। शिन्तो धर्म उस देश का पुराना है, पर उसका कोई दर्शन नहीं है। पितृपूजा के इर्द-गिर्द ही उसकी धुरी घूमती है। यों वहाँ हर वर्ग का एक कुल देवता भी है, जिनके छोटे-बड़े मंदिर वहाँ देखने को मिलते हैं और पूजा-उपचार चलते हैं। वहाँ धार्मिक कट्टरता जरा भी नहीं है। इस

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ११२

आधार पर कोई कलह-विग्रह भी नहीं होते। एक ही परिवार में कई सदस्य विभिन्न धर्मों के अनुयायी रहते हुए आपस में सद्भाव पूर्वक रहते हैं। भारत में जिस प्रकार परिवार का एक सदस्य किसी देवता या मंत्र की आराधना करे और दूसरा सदस्य दूसरे की तो उनमें कोई विग्रह न होगा। इसे श्रद्धा का विषय मानकर भिन्नता को सहज-सौजन्य के साथ सहन कर लिया जाएगा। ठीक इसी प्रकार जापान में धर्म को व्यक्तिगत अभिरुचि का विषय माना जाता है और इस संदर्भ में कोई किसी से झगड़ता-उलझता नहीं है।

जापान और अमेरिका के बीच प्रशांत महासागर में हवाई द्वीप समूह बसा है। यह जापान (टोक्यो) से ३००० मील और अमेरिका के लास एंजिल्स से कोई तेईस सौ मील की दूरी पर है। इस प्रकार यह एक प्रकार से जापान और अमेरिका के बीच में पड़ता है। इस पूरे द्वीप समूह का क्षेत्रफल ६४०० वर्ग मील और आबादी आठ लाख के करीब है। औसत आमदनी विश्व में सर्वोच्च है। इसमें बड़ा शहर एकमात्र 'होनोलूलू' है। यह छोटा सा देश अमेरिका के समान ही समृद्ध है। यहाँ ३६ जातियाँ बसी हैं। उनमें वैवाहिक सम्मिश्रण होता जाता है और पुरानी नस्लें समाप्त होकर नई नसल सामने आ रही हैं। यहाँ के निवासियों का स्वास्थ्य और सौंदर्य देखते ही बनता है।

भारतीयों के हाथ में भी यहाँ कितने ही काम हैं। मै० बाटूमल के यहाँ २६ स्टोर हैं, जिनमें सैकड़ों भारतीय काम करते हैं। 'बाटूमल ट्रस्ट' वहाँ के छात्रों को विविधविध सहायता देता है।

ओसाका में प्रायः चार सौ भारतीय परिवार रहते हैं। इनमें गुजरातियों की संख्या अधिक है। वे व्यवसाय करते हैं। मोती तथा दूसरी चीजों के निर्यात में उनका अच्छा हाथ है। जापान के अधिकांश भारतीय ओसाका में ही रहते हैं। यों वे अन्यत्र भी थोड़ी बहुत संख्या में बसे हुए हैं।



समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १९३

कोरिया और मंगोलिया में आलोक

जापान और चीन की सीमा से लगा हुआ कोरिया अब दो भागों में विभक्त है। उत्तर कोरिया में साम्यवादी शासन है और दक्षिण कोरिया में राष्ट्रवादी। उससे पूर्व समूचा कोरिया एक था और वहाँ बौद्ध धर्म का एकछत्र प्रभाव था। अब तो वहाँ नास्तिक, ईसाई एवं मुसलमान भी बहुत हैं।

कोरिया में भी चीन-जापान की तरह भारतीय धर्मप्रचारक पहुँचे थे और उन्होंने धर्मविजय अभियान के प्रकाश से उस क्षेत्र को भी आलोकित किया था। पीछे उत्साही चीनी बौद्ध भिक्षु भी अपने इस समीपवर्ती क्षेत्र में जाते रहे और वहाँ धर्म चक्र-प्रवर्तन का उत्तरदायित्व सँभालते रहे।

कोरिया के वज्रगिरि विहारों के भिक्षु संस्कृत मिश्रित कोरियाई भाषा बोलते हैं। इस देश में आचार्य मल्लानंद सन् ३८४ में पहुँचे और उनके प्रयत्न से 'संगमोन्सा' तथा 'इबुल्लांसा' बौद्ध विहारों की स्थापना हुई। इसके बाद अन्यान्य प्रचारक वहाँ जाते रहे। कोरिया का 'हेचो' नामक एक बुद्ध भक्त भारत की तीर्थयात्रा करने सातवीं सदी में आया। उसने अपना यात्रा वृत्तांत भी लिखा था। संस्कृत भाषा के कोरियाई विद्वान 'बुन चडक' ने 'विज्ञप्ति मात्रता' ग्रंथ पर सुंदर भाष्य लिखा। सिल्ला वंशी कोरियाई सम्राट भी बौद्ध धर्म के अनुयायी रहे और ध्यान योग की साधनाओं के अभ्यासी बने। प्राचीन कोरियाई साहित्य तथा भवन निर्माण कला पर भारतीयता की गहरी छाप है। 'सुकगोलाम' गुफाएँ भारतीय गुफाओं की शैली पर ही बनी हैं। मंदिरों में बजने वाले वाद्य यंत्र वही हैं, जो भारत में प्रयुक्त होते हैं। सम्राट ताइजो की नीति थी कि देश में अधिक मंदिर बनाए जाएँ, ताकि धर्मनिष्ठा की वृद्धि हो।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १९४

कोरिया का सबसे बड़ा बौद्ध ग्रंथ 'महा धर्म' है, जो संस्कृत से कोरियाई भाषा में अनुवादित हुआ है और लकड़ी के ठप्पे वाले प्रेस में छपा है। उसकी विशालता को देखते हुए उसे संसार का अद्भुत विस्तार वाला ग्रंथ कहा जा सकता है। उस देश की लिपि 'हाँगैडल' चीनी-जापानी पड़ोसी भाषाओं से सर्वथा भिन्न है। इसका निर्माण संस्कृत वर्णमाला और उसकी ध्यान पद्धति का सहारा लेकर किया गया है।

सन् ३८४ में एक दूसरा चीनी भिक्षु कोरिया के 'पाकचि' क्षेत्र में पहुँचा। उसका नाम था—'मसनद'। इसकी प्रचार शैली भी 'सुन दो' जैसी ही थी। उसके प्रभाव से 'पाकचि' का राज्य धर्म भी बौद्ध बन गया और प्रजा ने उसी धर्म को अंगीकार कर लिया। पाकचि के बौद्ध प्रचारक सिल्ला पहुँचे और चौथी शताब्दी के प्रथम चरण में वहाँ का राजधर्म भी बौद्ध बन गया। इस प्रकार से कुछ ही वर्षों के प्रयत्न से कोरिया के सुविस्तृत देश के तीनों भागों में बौद्ध धर्म का झंडा फहराने लगा। पाकचि के शासकों ने धर्म विजय में विशेष उत्साह दिखाया। सन् ४५२ में कोरिया नरेश सिमाई ने एक प्रतिनिधि मंडल जापान के राजा 'किम्मई' के पास भेजा और उस देश में बौद्ध धर्म के विस्तार की सुविधाएँ देने का अनुरोध किया। यहीं से जापान में भी बौद्ध धर्म के प्रसार का सिलसिला आरंभ हो गया। उन दिनों कोरिया आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत समृद्ध था। उसका व्यापार भारत, तिब्बत, ईरान, चीन, जापान आदि तक फैला हुआ था। व्यावसायिक आदान-प्रदान के साथ-साथ कोरिया से बौद्ध धर्म भी अन्यान्य देशों को निर्यात होता रहा।

सन् ५०२ में जापानी सेनाओं ने कोरिया को अपने अधीन कर लिया और कई शताब्दियों तक उस पर अधिकार रखा। राजनीतिक दृष्टि से जापान, विजयी और कोरिया पराजित रहा, पर धार्मिक दृष्टि से कोरियाई बौद्ध धर्म जापानी प्रजा पर हावी होता चला गया।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १९५

धार्मिक दृष्टि से वह पराजय भी विजय के रूप में परिणत हुई। कोरिया और जापान का संपर्क बढ़ा। इसमें धर्म और संस्कृति का भी आदान-प्रदान हुआ। जापान में उन दिनों बहुदेववादी शिन्तो धर्म प्रचलित था। उसके सिद्धांत और प्रतिपादन ऐसे ही बेसिर-पैर के थे। बौद्ध धर्म का दर्शन उसकी तुलना में बहुत ही समाधान-कारक था। अस्तु, प्रबुद्ध लोगों को उसे अपनाने में कठिनाई नहीं हुई और जापान में उसका विस्तार तेजी से होने लगा। सन् ५२२ में एक चीनी भिक्षु 'शिवातात्सु' कोरिया होते हुए जापान पहुँचा और उसने वहाँ की जनता को बौद्ध संदेशों से अवगत कराके श्रद्धा भरा वातावरण बनाया।

कोरिया के 'कुदारा' राज्य के शासक 'सिमाई' ने सन् ५५२ में जापान नरेश 'किमाई' की सेवा में बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमा, धर्म-ग्रंथ तथा लंबा पत्र एक बौद्ध भिक्षु के साथ भेजा, जिसमें बुद्ध की महत्ता बताते हुए उसे स्वीकार करने का अनुरोध किया गया था। राजा ने इन वस्तुओं को स्वीकार किया और आंशिक रूप से उन शिक्षाओं पर चलना आरंभ कर दिया। इसके बाद यह प्रयत्न और भी उत्साह के साथ जारी रहा और कोरिया से जापान के लिए बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ लगातार आते-जाते रहे। सन् ५७७ में कोरिया की उत्साही और विद्वान भिक्षुणियाँ जापान पहुँची और उन्होंने वहाँ समर्थ महिला संघ स्थापित कर दिया। जापानी नव दीक्षित महिलाएँ कोरिया के विहारों में धर्मशिक्षा प्राप्त करके वापस लौटीं तो उनका महिला-वर्ग में बहुत स्वागत हुआ और घर-घर में बौद्ध धर्म की जड़ें जमीं। रानी 'सुई को' का शासन काल ५९३ से ६२८ तक रहा। उसने बौद्ध धर्म अंगीकार किया, फलतः प्रजाजनों में भी उसके लिए आकर्षण एवं उत्साह बढ़ता चला गया।

ईसा से ४०० वर्ष पूर्व कोरिया के तीन भाग थे—उत्तरी रियासत को 'बागोरियो' कहा जाता था। मध्यवर्ती रियासत को 'पिय बछे' कहते थे और दक्षिणी रियासत 'सिल्ला' कहलाती थी। वास्तव में

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १९६

सिल्ला वाले ही अधिक साधन संपन्न और प्रभावी थे। उन्होंने ही दोनों रियासतों को मिटाकर कोरिया का एकीकरण किया।

ईसा से ३७२ वर्ष पूर्व चीनी बौद्ध भिक्षुओं की एक मंडली 'सु-दो' के नेतृत्व में कोरिया पहुँची और वहाँ अपने बौद्ध धर्म की जड़ जमाई। इस प्रकार कार्य की सहायता करने के लिए भारतीय बौद्ध विद्वान 'मरंता' वहाँ पहुँचा और धर्मविजय अभियान को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया। यह कार्य शांतिपूर्वक किंतु अत्यंत उत्साह के साथ चलता रहा और लगभग सारा कोरिया सात सौ वर्षों के भीतर बौद्ध धर्मावलंबी हो गया। तब ५८ में उसे विधिवत् राज्यधर्म घोषित कर दिया गया। इस अवधि में बौद्ध मंदिरों और विहारों के निर्माण की धूम मच गई। हजारों की संख्या में भिक्षुओं का निर्वाह एवं प्रशिक्षण का प्रबंध इन धर्म संस्थानों में चलता था और वे प्रशिक्षित बौद्ध विद्वान न केवल कोरिया के वरन समीपवर्ती अन्य देशों में भी धर्मप्रचार के लिए जाते थे। जापान में बौद्ध धर्म के निर्यात का श्रेय यदि कोरियाई भिक्षुओं को दिया जाए तो उसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी।

धर्माचार्य बोनियों को कोरिया में अत्यंत सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। उन्होंने बौद्ध साहित्य को कोरियाई भाषा में अनुवाद करने में अधिक परिश्रम किया और धर्मसंस्थानों के निर्माण, संचालन से लेकर प्रचार अभियान की बागडोर बहुत ही दूरदर्शिता के साथ सँभाली, उनकी प्रतिभा से एक राजकुमारी अत्यंत प्रभावित हुई और यह घनिष्ठता इस हद तक बढ़ी कि दोनों को विवाह सूत्र में आबद्ध होना पड़ा। इनके संयोग से जो पुत्र हुआ उसने चीनी और कोरियाई बौद्ध संस्थानों के बीच घनिष्ठ सहयोग विनिर्मित करने के लिए अद्भुत भूमिका निभाई। उसने कोरियाई लिपि में भी महत्वपूर्ण सुधार किए। बारहवीं सदी के अंत तक कोरिया में बौद्ध धर्म खूब फूला-फूला। भिक्षु विवाहित होकर भी रह सकते हैं, इस सुविधाजनक परंपरा ने उस देश में नये प्रतिभाशाली धर्म प्रचारकों को बहुत बढ़ाया।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १९७

तेरहवीं सदी के आरंभ में मंगोलों ने कोरिया पर चढ़ाई कर दी और उसे बुरी तरह रौंद डाला। उस उत्पीड़न से बौद्ध धर्म को भी बहुत हानि उठानी पड़ी। राजा और दरबारियों को सारी कोरिया भूमि छोड़कर कंगना टापू में छिपकर अपनी जान बचानी पड़ी। इन्हीं दुर्दिनों में धार्मिक लोगों के सहयोग से एक अद्भुत योजना यह बनी कि लकड़ी के ठप्पों पर बौद्ध धर्म के सारे ग्रंथों को खोद लिया जाए और उनसे ग्रंथ छापे जाएँ। त्रिपिटिक जैसे विशालकाय ग्रंथ का कोरियाई भाषा में मुद्रण इसी पद्धति से संभव हुआ। अन्य कितने ही धर्म ग्रंथ भी इसी प्रकार छपे। उनकी संख्या ८०२५८ है। उनके मुद्रण में सोलह वर्ष लगे और सभी प्रकाशन अभी भी 'हाहन्सा' विहार में सुरक्षित हैं, जिसे देखने के लिए बौद्ध जिज्ञासु वहाँ पहुँचते हैं और उस दुस्साहस पर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। यह संग्रहालय संसार के बौद्ध धर्म में अपने ढंग का अनूठा है।

मंगोल आधिपत्य से छुटकारा अच्छी तरह मिल भी न पाया था कि जापानियों ने कोरिया पर कब्जा कर लिया। इन राजनीतिक उथल-पुथलों के बीच भी कोरिया, मंगोलिया, चीन, जापान के बीच धार्मिक आदान-प्रदान का सिलसिला चलता रहा और पारस्परिक सहयोग से बौद्ध धर्म की भावनाएँ लोकमानस में प्रतिष्ठित करने का क्रम अनवरत रूप से बढ़ता ही रहा।

मंगोलिया में बौद्ध धर्म—

मंगोलिया में छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म पहुँचा। नरेन्द्र यशस वहाँ सर्वप्रथम पहुँचे। इसके बाद दूसरे आचार्यों की पहुँच होती रही। सन् १९४० की खोज से उस देश में ७५० बौद्ध विहारों के प्रमाण मिले हैं। ताड़ पत्र, भोज पत्र आदि पर लिखे सहस्रों संस्कृत तथा पाली ग्रंथ वहाँ पाए गए। भारतीय देवताओं की तथा बुद्ध भगवान की सहस्रों प्रतिमाएँ उस क्षेत्र में उपलब्ध हुई हैं। रूस के पुरातत्ववेत्ता और संस्कृत विद्वान 'श्चर्वातकी' मंगोलिया को आठवीं सदी का भारत कहा करते थे। उस देश के छोटे देहातों में भी राम

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १९८

चरित्र, कृष्ण चरित्र, विक्रमादित्य, राजा भोज आदि की कथा-गाथाएँ रुचिपूर्वक कही और सुनी जाती हैं। उस देश में साम्यवाद को पहुँचे प्रायः आधी शताब्दी होने को आती है, इतने पर भी वहाँ के नागरिकों में धर्मश्रद्धा पहले की भाँति ही अक्षुण्ण बनी हुई है।

मंगोलिया के राष्ट्रपति का नाम-शंभु, राष्ट्र ध्वज का नाम-स्वायंभू, प्रधान नदी का नाम 'दारु गंगा' है। इसके अतिरिक्त वहाँ के लोगों के नाम देखने पर प्रतीत होता है कि वे भारतीय परंपरा के अनुरूप रखे गए हैं। साम्यवादी क्रांति की सफलता की घोषणा जिस 'सुखेवात्र' शंख को बजाकर की गई थी वह शंख अभी भी यहाँ के संग्रहालय में सुरक्षित है। रूस की तरह यहाँ पर भी अब साम्यवाद क्रमशः समाप्त होता जा रहा है।



समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १९९

साइबेरिया के घोर शीत प्रदेश में

साइबेरिया के घोर शीत प्रदेश में भारतीय धर्मप्रचारक किन-किन कठिनाईयों के साथ पहुँचे होंगे, वहाँ के कष्टसाध्य जीवन-क्रम को अपनाकर, किस निष्ठा के साथ धर्म प्रचार करते रहे होंगे, यह कल्पना करके आज आश्चर्य लगता है। पर उन दिनों जो भावनात्मक उत्साह एवं स्तर था उसे देखते हुए उसमें कुछ अचंभा भी नहीं करना चाहिए। मनुष्य निष्ठाओं का पुतला है। भली या बुरी जिस भी दिशा में उसके कदम बढ़ चलें उसी में समस्त कठिनाइयों को रौंदता हुआ आश्चर्यजनक और आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता है।

साइबेरिया को वहाँ के निवासी 'शिविर देश' कहते हैं। शिविर का अर्थ है-तंबू। वहाँ के निवासियों को अपने रहने के लिए परिस्थितिवश तंबूओं में ही निर्वाह करना पड़ता है।

इर्कुत्स के समीप हिमाच्छादित बैकाल झील और आंगिस्की नदी भारत के कैलाश तथा मानसरोवर जैसा दृश्य आँखों के सामने प्रस्तुत करती है। ठंड बेहद पड़ती है। 'उलान्वातर का गांडड' विहार साइबेरिया का प्रसिद्ध बौद्ध विहार है। भवनों पर बने स्वर्ण मंदिर शिखर जैसे प्रतीत होते हैं। धर्मचक्र के प्रेरक प्रतीक वहाँ सुसज्जित रूप से स्थापित हैं। पूजा-भवन का नाम है 'तुषितः महायान द्वीप' यह वाक्य भारतीय लिपि में लिखा हुआ है। स्थापित बुद्ध प्रतिमा देखते ही बनती है। तथागत के जीवन वृत्तांत से संबंधित रंगीन भित्ति चित्र बने हैं। स्थानीय भाषा में बौद्ध साहित्य अनूदित हुआ है और वह इस विहार में उपलब्ध है। सत्रहवीं शताब्दी में भारत से एक अश्वमांगुलि नामक भिक्षु वहाँ पहुँचे थे, उनका दंड अभी इस विहार में सुरक्षित है। तांत्रिक प्रचलन के समय इस मंदिर में महाकाल की एक भयंकर

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / २००

प्रतिमा भी स्थापित की गई। कितने ही देवताओं की मूर्तियाँ भी वहीं मौजूद हैं। इस विहार के लामा संस्कृत भी जानते हैं। भारतीय ज्योतिष का भी यहाँ प्रचलन है। विवाह संस्कार में भारत की तरह हवन, ग्रंथि बंधन, प्रदक्षिणा, मंत्रोच्चार, अक्षत फेंकना, आशीर्वाद आदि विधानों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सारे प्रचलन वहाँ भारत से ही गए हैं।

चाणक्य नीति, अमर कोष, मेघदूत, सुभाषित रत्न निधि जैसी अनेक पुस्तकें उस देश की भाषा में अनूदित हुई हैं। किसी समय उस देश में ७१० विहार तथा २००० मंदिर थे, पर अब तो उनमें से अधिकांश खंडहरों के रूप में बिखरे पड़े हैं।

उलान्वातर का राजकीय पुस्तकालय प्राचीन बौद्ध साहित्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। उसमें तिब्बती तथा मंगोली भाषा की प्रायः एक लाख पुस्तकें संग्रहीत हैं। आधुनिक पुस्तकों की संख्या भी ५० हजार के लगभग है। इनमें संस्कृत भाषा के ग्रंथ भी हैं।

यहाँ एक दूसरा विहार है—दोइजिनत्सामिन। इसमें भगवान बौद्ध के अतिरिक्त अन्य देवताओं की भी मूर्तियाँ हैं। भारत से उस देश में गए १८ आचार्यों के चित्र भी इस विहार में स्थापित हैं।

‘एदनब्जु’ के समीपवर्ती क्षेत्र में ६८ धर्मप्रचारकों की समाधियाँ हैं। इस नगर में १०८ स्तूप बने हैं। माला से जपे जाने वाले मनकों के आधार पर ही संभवतः यह स्तूप बनाए गए हैं। अब तो जीर्ण-शीर्ण हो चले हैं। तीन विशाल बौद्ध विहारों के भग्नावशेष भी वहाँ मौजूद हैं, जिनसे पता चलता है कि किसी समय वहाँ बौद्ध धर्म का कैसा वर्चस्व रहा होगा? ‘जीवित’ विहार में विधिवत पूजा-उपासना होती है। इसमें कितनी ही स्वर्ण मंडित मूर्तियाँ स्थापित हैं। इनमें शाक्य मुनि, कश्यप और मैत्रेय की प्रतिमाएँ प्रधान हैं।

उपरोक्त मंदिर में अभी भी विधिवत पूजा विधान चलता है। बोधि वृक्ष का वंशज एक वटवृक्ष अभी भी यहाँ अपने धर्म संस्थापक की स्मृति का प्रतीक बनकर श्रद्धा पूजित होता है।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / २०१

साइबेरिया में आंगिस्की नदी के समीप एक विशालकाय बौद्ध विहार था, जिसमें देवालय और विद्यालय दोनों ही थे। यह विश्वविद्यालय स्तर का था। उनमें दर्शन, तंत्र, आयुर्वेद और ज्योतिष के अध्ययन की उच्चस्तरीय व्यवस्था थी। इस विद्यालय का नाम था—‘आंगिस्की दत्साना’। इसके पुस्तकालय में पाणिनि व्याकरण, मेघदूत काव्य, अष्टांग हृदय, निघण्टु, मंत्र समुच्चय आदि संस्कृत के सहस्रों ग्रंथ हैं। यहाँ लकड़ी के ठप्पे बनाकर पुस्तकें छापने वाली पुरानी पद्धति का एक प्रेस भी था, जिसमें कितने ही उपयोगी ग्रंथ छापे गए। इस क्षेत्र में आयुर्वेद पद्धति का बहुत सम्मान था। यहाँ के एक आयुर्वेदज्ञ पदम येफ ने रूस के तत्कालीन मूर्द्धन्य व्यक्तियों की सफल चिकित्सा भी की थी।

पूर्वी साइबेरिया के बुर्यात प्रदेश का चीता क्षेत्र अभी भी बौद्ध धर्मावलंबी है। आगिन्स्क जिले के इर्कत्स्क क्षेत्र में सबसे अधिक बौद्ध रहते हैं। ‘तुवा’ और ‘कास्मिक’ क्षेत्रों में भी बौद्ध धर्म फैला हुआ है। यहाँ मंगोलिया और तिब्बत की वास्तुकला के मंदिर बने हैं। ‘म्रेदनया इवोल्गा’ बस्ती का विहार देखने ही योग्य है। यह बुर्यातिया की राजधानी ‘उलान उदे’ से लगभग चालीस मील दूर है। यहाँ के प्रमुख पुरोहित को ‘बंदिदो खंबोलिया’ कहते हैं। मंदिरों के साथ-साथ इस बस्ती में स्तूप भी हैं। सामान्य सूत्र पाठ तथा प्रार्थना का क्रम यहाँ रोज ही चलता है। नववर्ष का समारोह विशेष उत्साह से मनाया जाता है और कई दिन तक चलता है। तीस भिक्षुओं के निवास के लायक स्थान इस मठ में बना है। बौद्ध सोसाइटी का केंद्रीय कार्यालय भी इसी में है। आगुंतकों के लिए विश्रामगृह का कक्ष भी है। संग्रहालय तथा पुस्तकालय में प्राचीनकाल की हस्तलिखित पांडुलिपियाँ सुरक्षित हैं। तिब्बती त्रिपिटिक के दो वर्ग हैं—एक ‘कंजूर’ दूसरा ‘तंजूर’। यहाँ के पुस्तकालय में कंजूर वर्ग के १०८ और तंजूर वर्ग के २१५ ग्रंथ सुरक्षित हैं। कुछ दुर्लभ ग्रंथ लकड़ी के ठप्पों की छपाई में छपे हुए भी हैं। आचार्य चोडखप के द्वारा संचालित ‘पीत टोपी बौद्ध संप्रदाय’ के २१ ग्रंथ भी इस पुस्तकालय में हैं। संसार में

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / २०२

अन्यत्र छपा बौद्ध साहित्य भी इस छोटे से पुस्तकालय में बड़ी सुरुचि के साथ संग्रहीत एवं सुसज्जित किया गया है।

मंदिर में भगवान बुद्ध की जीवन घटनाओं से संबंधित कितने ही चित्र तथा प्रतिमाएँ सुसज्जित हैं। इस क्षेत्र में छह पर्व मनाए जाते हैं। पाँच भगवान के जीवन की विशिष्ट घटनाओं से संबंधित हैं और एक बौद्ध सुधारक 'चोडखप' की स्मृति में प्रचलित है। सबसे बड़ा त्योहार है— 'जगानसर खुरल' अर्थात् नवीन वर्ष का श्वेत चंद्र पर्व। यह बसंत ऋतु के आरंभ में होता है।

'इवोल्गा' बौद्ध विहार के अतिरिक्त इस क्षेत्र में एक और भी दर्शनीय बौद्ध विहार है—चीता क्षेत्र में अगिन्सफ जिले के 'दजान'। यह इस क्षेत्र में रहने वालों के आठ कबीलों के दान से बना है। तिब्बती शैली का यह सुंदर दुमंजिला भवन है। पहली मंजिल में विशाल प्रार्थना कक्ष-चित्रों और मूर्तियों का संग्रहालय एवं एक पवित्र दर्पण 'सुदुर्गन' अवस्थित है। दूसरी मंजिल में दुर्लभ ग्रंथों का संग्रहालय पुस्तकालय है। इस विहार के प्रांगण से लगा 'बोधि वृक्ष' सभी दर्शकों एवं भक्तजनों का श्रद्धाभाजन है। इसे भारतीय बौद्ध शताब्दियों पूर्व वहाँ ले गए थे। वुर्यांतिया क्षेत्र के बौद्ध स्मारकों में एक विस्मृत विहार 'गुसिनूजेस्की' में मिला है जिसका पुनरुद्धार अब बड़े उत्साह के साथ किया जा रहा है।

साइबेरिया के प्राचीन मंदिर में स्थित मूर्तियाँ हिंदू देवताओं की हैं। वहाँ का बड़ा मंदिर 'महाकाल' देवता का है जिसका स्तवन संस्कृत श्लोकों में होता था।

मंगोलिया में मांगलिक अवसरों पर कलश की स्थापना, स्वस्तिक बनाना, शंख, चक्र और पद्म का चित्रण, घृत दीप एवं धूपबत्ती का जलाना अभी भी प्रचलित है। इन प्रथाओं को वहाँ पर भूतकाल में हिंदू धर्म की प्रतिष्ठापना का अवशेष ही माना जाता है। देव प्रतिमाएँ जहाँ भी मौजूद हैं उनमें हिंदू देवताओं की ही मूल मान्यता झाँकती देखी जा सकती है।



समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / २०३